लोक परलोक का सुधार

(काम के पत्र)

जिस आत्मरक्षामें विश्वात्माके किसी अङ्गपर सचमुच प्रहार सम्भव हो, वह आत्मरक्षा कैसी ? वह तो प्रत्यक्ष ही आत्मापर आघात है—आत्मघात है।

—इसी पुस्तकसे

लोक परलोक का सुधार
(काम के पत्र)
४
हनुमान प्रसाद
पोद्दार

ॐ श्रीहरि

नम्र निवेदन

भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के व्यक्तिगत पत्रों-के (जो 'कामके पत्र' शीर्षकसे 'कल्याण'में प्रकाशित होते हैं और जिनको लोग बड़ी उत्सुकतासे पढ़ते हैं) तीन भाग पाठकोंकी सेवामें जा चुके हैं। तीसरा भाग अभी कुछ ही दिनों पूर्व प्रकाशित हुआ था। पुस्तकका आकार बहुत बड़ा न हो इसीलिये इस चौथे भागको अलग छापा है। पाँचवाँ भाग भी शीघ्र प्रकाशित होनेकी आशा है।

पूर्वप्रकाशित संग्रहोंकी भाँति इसमें भी पारमार्थिक एवं लौकिक समस्याओंका अत्यन्त सरल और अनूठे ढंगसे विशद समाधान किया गया है। आजकल जब कि जीवनमें दुःख, दुराशा, द्वेष और दुराचार बढ़ता जा रहा है तथा सदाचार-विरोधी प्रवृत्तियोंसे मार्ग तमसाच्छन्न हो रहा है, तब सच्चे सुख-शान्तिका पथ-प्रदर्शन करनेवाले इन स्नेहापूरित उज्ज्वल-ज्योति दीपकोंकी उपयोगिताका मूल्य आँका नहीं जा सकता।

पहलेके भागोंसे परिचित पाठकोंसे तो इनकी उपयोगिता-के विषयमें कुछ कहना ही नहीं है। पुस्तक आपके सामने ही है। हाथ-कंगनको आरसी क्या?

गोरखपुर
श्रीरामनवमी
सं० २००९ वि०

विनीत—
चिम्मनलाल गोस्वामी
(एम्० ए०, शास्त्री)

श्रीहरि

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

इन पत्रोंके चुने हुए विषय

॥ श्रीहरि ॥

लोक-परलोकका सुधार

कामके पत्र

[चतुर्थ भाग]

(१)

भगवान्‌के भजनकी महिमा

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आप लिखते हैं कि 'मैं सोते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते सदा श्रीभगवान्‌का स्मरण करता हुआ उनकी प्रार्थना करता रहता हूँ । मैंने भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर दिया है और मुझे भगवान्‌पर पूरा विश्वास भी है, तथापि अभीतक भगवान्‌ने मेरी प्रार्थना नहीं सुनी है । इसलिये मुझे निराशा हो रही है, कृपया बताइये इसमे क्या कारण है ?' वास्तविक कारण तो भगवान् ही जानते हैं; परंतु महात्माओंका ऐसा अनुभव है और शास्त्र भी कहते हैं कि भगवान्‌मे पूर्ण विश्वास करके जो पुरुष सदा भगवान्‌का स्मरण करता हुआ प्रार्थना करता है, उसकी प्रार्थना भगवान् अवश्य सुनते हैं । पर आपके प्रसङ्गमें ऐसा क्यों हुआ सो पता नहीं है । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भगवान्‌ने कहीं भूल की हो, सो बात नहीं है । कहीं-न-कहीं आपकी ही भूल है । और वह भूल यों तो प्रत्यक्ष ही है । आप यदि सदा उनका

स्मरण ही करते रहते तो फिर दूसरे चिन्तनके लिये अवकाश ही क्यों मिलता। यदि भगवान्‌के लिये ही प्रार्थना करते हैं तो भगवान्‌का नित्य चिन्तन होनेसे बढ़कर और लाभ ही कौन-सा है और वह आपके कथनानुसार आपको मिल ही रहा है। यदि आप स्मरणके अतिरिक्त भगवत्साक्षात्कार आदिके लिये प्रार्थना करते हैं तो फिर उसमें निराशा कैसी? जहाँ पूर्ण विश्वास है, वहाँ तो निराशाको स्थान ही नहीं है। और जो आत्मसमर्पण कर चुकता है, वह तो अपनी स्वतन्त्र इच्छासे किसी वस्तु या स्थितिकी प्रार्थना ही कैसे कर सकता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि आपके 'निरन्तर स्मरण,' 'नित्य प्रार्थना,' 'आत्मसमर्पण' और 'पूर्ण विश्वास' मे ही त्रुटि है। भगवान्‌से आपकी प्रार्थना यदि किसी सासारिक विषयके लिये होती रही है, तब तो विश्वास, आत्मसमर्पण और नित्य स्मरणमें बड़ी त्रुटि है—

> जहाँ राम तहाँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम।
> तुलसी कबहुँ कि रहि सकैं रबि रजनी एक ठाम॥

'जहाँ विषयासक्ति तथा भोग-कामनारूपी अन्धकार है, वहाँ भगवद्विश्वास और भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पणरूप सूर्यका प्रकाश कहाँ है? और जहाँ भगवान्‌का सूर्य उगा है, वहाँ भोगासक्तिरूप अन्धकार कहाँ है। सूर्य और रात्रि दोनों एक जगह एक साथ प्रकट नहीं रह सकते।' अतएव आप गहराईके साथ अपने मनके भावों तथा साधनाके स्वरूपपर विचार कीजिये। और जहाँ-जहाँ अपनेमें त्रुटि दिखायी दे वहाँ-वहाँ उसे सावधानीके साथ पूरा कीजिये।

यह सब होनेपर भी आप जो कुछ कर रहे हैं, वह बहुत ही सराहनीय है। आपने अपने साधनको कुछ अधिक समझ लिया, इतनी-सी आपकी भूल है, पर साधन तो होता ही है। आप अपनी समझसे विश्वास भी करते हैं, स्मरण-प्रार्थना भी करते हैं और आत्मसमर्पण भी कर चुके हैं। यह सब, इस युगमें, कम नहीं है। आपका बड़ा सौभाग्य है कि आप ऐसा कर पाते हैं। भगवान्‌की बड़ी कृपा समझिये जो आपकी ऐसी बुद्धि है। आप किसी प्रकारसे निराश न होइये। आप यदि भगवान्‌को सकामभावसे भजते हैं तो भी परिणाममें आपका कल्याण ही होगा। निष्काम भाव सर्वोत्तम है। प्रेम उससे भी ऊँचा है, परंतु सकामभावसे किया हुआ भजन भी अन्तमें भगवत्प्राप्ति करा देता है। भगवान्‌का सकाम भजन किसी फलको देकर नष्ट नहीं हो जाता, वह जीवको भगवान्‌तक पहुँचाकर ही छोड़ता है। किसी प्रकार भी कोई भगवान्‌को भजे—उनके साथ किसी भी इन्द्रियका, मनका, बुद्धिका किसी हेतुसे भी एक बार सम्बन्ध हो जाना चाहिये। वह भगवत्सम्बन्ध—वह ब्रह्मसंस्पर्श भगवान्‌की प्राप्ति करा ही देगा। काम-क्रोध और वैरसे सम्पर्क करनेवाले भी जब भगवान्‌को पा जाते हैं*, तब विश्वासके साथ सकामभावसे भजन करनेवाले अन्तमें भगवान्‌को पा जायँ, इसमें क्या आश्चर्य है? श्रीभगवान्‌ने आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी

* कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥
(श्रीमद्भा० ७।१।२९)

'काम, द्वेष, भय, स्नेह और भक्तिके द्वारा ईश्वरमें मन लगाकर बहुत-से लोग अपने-अपने पापोंका नाशकर भगवान्‌को प्राप्त हो गये हैं।'

और ज्ञानी—चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन करते और उनकी महत्ता बतलाते हुए अन्तमें कहा है—'मद्भक्ता यान्ति मामपि' (गीता ७ । २३)—मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं ।

हाँ, कामनाकी पूर्ति होना-न-होना भगवान्‌के मङ्गलमय सङ्कल्प-पर अवलम्बित है । वे जिस बातमे हमारा कल्याण समझते हैं, वही करते हैं । कहीं कामनाकी विलक्षण पूर्ति कर देते हैं तो कहीं कामना-को सफल होने ही नहीं देते । हाँ, भजन करनेवालेकी लौकिक कामना अन्तमें मिट अवश्य जाती है—चाहे पूर्ण होकर और चाहे नष्ट होकर । यह याद रखना चाहिये कि वस्तुत. कामनाकी पूर्तिसे कामना नहीं मिटती । उससे तो वह उत्तरोत्तर वैसे ही बढ़ती है, जैसे घी-ईंधन पड़नेसे अग्नि ।

'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषयभोग बहु घीते'

भगवान् जब कृपा करके जीवके हृदयमें अपनी मधुर झाँकी कराते हैं, तब अन्य सारी कामनाएँ अपने आप ही मिट जाती हैं । फिर न तो सासारिक पदार्थोंकी प्रचुरता रहनेपर भी उनमें ममतासक्ति रह जाती है, न निपट दरिद्रता और दु.खमय स्थिति होनेपर भी उससे त्राण पानेकी उत्कट अभिलाषा होती है ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

(गीता ६ । २२)

'जिस लाभको प्राप्त होनेपर साधक उससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं मानता और जिस स्थितिमें स्थित होकर वह बड़े भारी दुःखमें भी स्थितिसे विचलित नहीं होता ।' भजन करनेवालेकी अन्त-

में यही स्थिति होती है, जिससे उसकी कामनाका बीज ही दग्ध हो जाता है। इसलिये किसी भी हेतुसे भजन करना चाहिये। आप भजन करते हैं—यह आपका परम सौभाग्य है—

'भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥'

भजनमें यथाशक्ति निष्काम तथा प्रेमका भाव बढ़ाइये। अपनी भूलोंको देखते रहिये तथा भगवान्‌की असीम कृपाका अनुभव करते हुए भजनमें संलग्न रहिये। भजन अपने-आप ही सब काम कर देगा। शेष भगवत्कृपा।

(२)

भोग, मोक्ष और प्रेम सभीके लिये भजन ही करना चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण। भाई! सबके लिये यही एक नियम तो नहीं है परन्तु भगवत्कृपाका यह भी एक तरीका अवश्य है। वे जिसपर कृपा करते हैं उसे दुःखका अमोघ दान दिया करते हैं। उसका धन हरण करते हैं, मान घटा देते हैं एवं बन्धुओं और मित्रोंमें उसके प्रति घृणा या उपेक्षाकी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। असलमें संसारके सुखों और भोगोंकी विशाल इमारतें ज्यों-ज्यों ढहती हैं, त्यों-ही-त्यों वह संसारके बन्धनसे मुक्त होकर प्रभुकी ओर बढ़ता है। अपनी ओर खींचनेके लिये ही प्रभु उसे दुःखका दान दिया करते हैं। एक भक्त बंग-कविने भगवान्‌की सूक्ति कही है—

जे करे आमारि आश। ताँर करि सर्वनाश॥
तबु जे छाड़े ना आश। ताँरे करि दासानुदास॥

और ज्ञानी—चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन करते और उनकी महत्ता बतलाते हुए अन्तमें कहा है—'मद्भक्ता यान्ति मामपि' (गीता ७ । २३)—मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं ।

हाँ, कामनाकी पूर्ति होना-न-होना भगवान्‌के मङ्गलमय सङ्कल्प-पर अवलम्बित है । वे जिस बातमें हमारा कल्याण समझते हैं, वही करते हैं । कहीं कामनाकी विलक्षण पूर्ति कर देते हैं तो कहीं कामना-को सफल होने ही नहीं देते । हाँ, भजन करनेवालेकी लौकिक कामना अन्तमें मिट अवश्य जाती है—चाहे पूर्ण होकर और चाहे नष्ट होकर । यह याद रखना चाहिये कि वस्तुत. कामनाकी पूर्तिसे कामना नहीं मिटती । उससे तो वह उत्तरोत्तर वैसे ही बढ़ती है, जैसे घी-ईंधन पड़नेसे अग्नि ।

'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषयभोग बहु घीते'

भगवान् जब कृपा करके जीवके हृदयमें अपनी मधुर झाँकी कराते हैं, तब अन्य सारी कामनाएँ अपने आप ही मिट जाती हैं । फिर न तो सासारिक पदार्थोंकी प्रचुरता रहनेपर भी उनमें ममतासक्ति रह जाती है, न निपट दरिद्रता और दु.खमय स्थिति होनेपर भी उससे त्राण पानेकी उत्कट अभिलाषा होती है ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
(गीता ६ । २२)

'जिस लाभको प्राप्त होनेपर साधक उससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं मानता और जिस स्थितिमें स्थित होकर वह बड़े भारी दुःखमें भी स्थितिसे विचलित नहीं होता ।' भजन करनेवालेकी अन्त-

में यही स्थिति होती है, जिसमें उसकी कामनाका बीज ही दग्ध हो जाता है। इसलिये किसी भी हेतुसे भजन करना चाहिये। आप भजन करते हैं—यह आपका परम सौभाग्य है—

'भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥'

भजनमें यथाशक्ति निष्काम तथा प्रेमका भाव बढ़ाइये। अपनी भूलोंको देखते रहिये तथा भगवान्‌की असीम कृपाका अनुभव करते हुए भजनमें संलग्न रहिये। भजन अपने-आप ही सब काम कर देगा। शेष भगवत्कृपा।

(२)

भोग, मोक्ष और प्रेम सभीके लिये भजन ही करना चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण। भाई! सबके लिये यही एक नियम तो नहीं है परन्तु भगवत्कृपाका यह भी एक तरीका अवश्य है। वे जिसपर कृपा करते हैं उसे दुःखका अमोघ दान दिया करते हैं। उसका धन हरण करते हैं, मान घटा देते हैं एवं बन्धुओं और मित्रोंमें उसके प्रति घृणा या उपेक्षाकी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। असलमें संसारके सुखों और भोगोंकी विशाल इमारतें ज्यों-ज्यों ढहती हैं, त्यों-ही-त्यों वह संसारके बन्धनसे मुक्त होकर प्रभुकी ओर बढ़ता है। अपनी ओर खींचनेके लिये ही प्रभु उसे दुःखका दान दिया करते हैं। एक भक्त बंग-कविने भगवान्‌की सूक्ति कही है—

जे करे आमारि आश। तॉर करि सर्वनाश॥
तबु जे छाड़े ना आश। तॉरे करि दासानुदास॥

'जो मेरी आशा करता है, मैं उसका सर्वनाश कर देता हूँ। इतनेपर भी जो मेरी आशा नहीं छोड़ता, उसको मैं अपना दासानुदास बना लेता हूँ।'

बात भी ऐसी ही है। जबतक मनुष्य संसारके 'सर्व' के पीछे पागल है, तबतक उसे भगवान्‌की मधुर सुधि कैसे आयेगी ? और भगवान्‌का स्मरण हुए बिना दुःखोंका आत्यन्तिक नाश सम्भव नहीं है। इसीलिये भगवान् ऐसे मनुष्यके भोगोंका हरण करके उसे अपनी ओर खींचते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८८। ८-९)

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसके धनको धीरे-धीरे छीन लेता हूँ। जब वह निर्धन हो जाता है, तब उसके घरके लोग—सगे-सम्बन्धी उसके दुःखाकुल चित्तकी कुछ भी परवा न करके उसे छोड़ देते हैं। उसको कोई पूछतातक नहीं। वह धनके लिये यदि फिर चेष्टा करने लगता है तो मैं अपनी कृपासे उसका वह उद्योग भी निष्फल कर देता हूँ। इस प्रकार बार-बार असफल होनेसे उसका मन धन कमानेसे हट जाता है। उसे दुःखरूप मानकर वह उससे अपना मुँह मोड़ लेता है और मेरे प्रेमी भक्तोंका आश्रय लेकर उनसे मित्रता करता है (क्योंकि संसारमें असफल और सबके द्वारा परित्यक्त पुरुषको भगवान्‌के भक्त ही आश्रय देते हैं), तब मैं उसपर

अपनी अहैतुकी कृपाकी वर्षा करता हूँ (जिससे वह मुझमें लगकर मुझ सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है)।'

इस प्रकार जगत्‌की दृष्टिमें अकिञ्चन बनाकर भगवान् उसे अपनी भक्ति देते हैं, तदनन्तर उसे आत्मदान करके स्वयं उसके सेवक बन जाते हैं। ऐसा भक्त फिर बाहरसे ही नहीं, भीतरसे भी 'अकिञ्चन' बन जाता है। उसका अपना एक भगवान्‌को छोड़कर और कोई कुछ रहता ही नहीं। ऐसा अकिञ्चन भक्त भगवान्‌को इतना प्रिय होता है कि भगवान् स्वयं उसकी सेवा करना चाहते हैं। भगवान् भक्तकी आराधना करते हैं। प्रेमास्पद प्रेमी बन जाता है। भगवान्‌ने अपने परमप्रिय भक्त उद्धवसे कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१५-१६)

'उद्धव! मुझे तुम-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मारूप शङ्कर, सगे बड़े भाई बलरामजी और नित्य अर्द्धाङ्गिनी श्रीलक्ष्मीजी भी नहीं हैं। यहाँतक कि मेरा आत्मा भी उतना प्रिय नहीं है जितने मेरे प्रेमी भक्त मुझे प्यारे हैं। उद्धवजी! जो किसी चीजकी बाट नहीं देखते, निरन्तर मेरे मननमें ही लगे रहते हैं, सर्वथा शान्त रहते हैं, किसीसे वैर नहीं रखते और सबमें समभावसे केवल मुझको ही देखते हैं। इस प्रकारके भक्तके पीछे-पीछे मैं निरन्तर इसलिये घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी रज उड़कर मुझपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

भक्त भगवान्‌के भजनमें निरन्तर सब कुछ भूला रहता है तो भगवान् उस भक्तका भजन करते है—

भरत सरिस को राम सनेही । जगु जप राम रामु जप जेही ॥

हाँ, भक्त यह कभी नहीं सोचता कि मै इसलिये भक्ति करूँ कि भगवान् मेरे सेवक बन जायँ । सच्चा भक्त तो भगवान्‌का भजन केवल इसीलिये करता है कि उससे भजन किये बिना रहा ही नहीं जाता । उसका भजन, बस, भजनके लिये ही होता है । उसे न भुक्तिका पता है, न मुक्तिका । उसका चित्त सहज ही निरन्तर भजनमें रमता है, उसे उसीमें मजा आता है । इसलिये वह उसीमें सन्तुष्ट और मस्त रहता है । भगवान् अपने जिस कृपापात्र लौकिक धनी-मानी भक्तको वैभवके मायाजालसे छुड़ाकर आत्मदान करना चाहते हैं, उसीपर इस तरीकेसे कृपा किया करते हैं ।

संसारकी धन-सम्पत्ति—जो प्राय. नरकोंमें ले जानेवाली ही होती है—नष्ट हो जाय और उसके बदलेमें यह परम धन मिल जाय तो इससे बढ़कर और कौन-सा लाभ हो सकता है ? और इससे बढ़कर मानव-जीवनकी सफलता भी और क्या हो सकती है ?

इससे कोई यह न समझें कि भगवान् सभी भक्तोंका धन-मान हरण करते हैं या किसीको भी धनैश्वर्य नहीं देते । वे धनैश्वर्य भी देते हैं, और प्रचुर परिमाणमे देते हैं—सुदामाको दिया, विभीषणको दिया, सुग्रीवको दिया, ध्रुवको दिया, उग्रसेनको दिया । और भी न मालूम कितनोंको दिया । पर यह सब देकर भी उनको अभिमान नहीं दिया । वे भगवत्कृपासे सदा जलमें कमलपत्रकी भाँति धनमें रहकर भी धनसे अलग ही रहे । इधर बेचारे नारदजीको विवाह नहीं

करने दिया। बलिका प्राप्त किया हुआ स्वर्गराज्य छीन लिया! अवस्थाके अनुसार ही व्यवस्था हुआ करती है। चतुर चिकित्सक रोगका निदान करके वही दवा देता है, जिससे रोगी रोगसे मुक्त हो जाय। फिर भगवान्‌की दी हुई तो कड़वी दवा भी—भगवान्‌का परिचय मिलनेपर—मीठी ही मालूम होती है। बलिने स्वयं कृतज्ञता प्रकट करते हुए भगवान्‌से कहा है—

अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः
प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः।
यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहोऽमरै-
रलब्धपूर्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः ॥
(श्रीमद्भा० ८। २३। २)

'अहो प्रभो! मैंने आपको पूरा प्रणाम भी नहीं किया, प्रणाम करनेकी चेष्टामात्र की। इसीसे मुझे वह फल मिला, जो आपके चरणोंके शरणागत भक्तोंको मिला करता है। बड़े-बड़े लोकपाल और देवताओंपर आपने जो कृपा कभी नहीं की, वह मुझ-जैसे नीच असुरको सहज ही प्राप्त हो गयी।'

इस प्रसङ्गमें भगवान्‌ने धनादिके हरणका जो कारण बतलाया है, उसे तुम भैया! श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके २२ वें अध्यायमें जरूर पढ़ना। कितने दयालु हैं भगवान् और जीवोंको किस तरह दुःखार्णवसे निकालकर नित्य सुख-समुद्र अपने चरणोंकी ओर खींचते हैं।

पता नहीं, तुम्हारे उन मित्रपर भी भगवान् इसी प्रकार कृपा करना चाहते हों। उन्हें घबराना नहीं चाहिये और भगवान्‌के मङ्गल विधानके कल्याणमय परिणामपर विश्वास करके भगवान्‌का स्मरण करते हुए यथायोग्य चेष्टा करनी चाहिये।

यदि घबराहट ही हो और अपनी इसी वैभवकी स्थितिमें रहनेका मोह हो तो भी सर्वलोकमहेश्वर अनन्त ऐश्वर्य-सागर भगवान्‌से ही प्रार्थना करनी चाहिये। जब जाँचना ही है तो उन्हींको क्यों न जाँचा जाय। जो सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, सर्वैश्वर्यसम्पन्न होनेके साथ ही स्वभावसे ही परम उदार और सबके परम सुहृद् भी हैं। उनसे याचना करनेपर उनकी कृपा होगी तो याचनाकी वस्तु भी मिल जायगी और फिर माँगनेकी वृत्ति—कामना-वासना भी सदाके लिये नष्ट हो जायगी।

> जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं
> इक जाचिअ जानकी जानहि रे।
> जेहिं जाचत जाचकता जरि जाइ,
> जो जारति जोर जहानहि रे॥

कदाचित् उन सर्वज्ञ प्रभुने अकल्याण समझकर माँगी हुई वस्तु नहीं दी तो उसके बदलेमें वे ऐसे विलक्षण शान्तिके और सन्तोषके अत्युच्च स्तरपर चढ़ा देंगे कि फिर अभाव-बोध होगा ही नहीं, प्रतिकूलताके दर्शन किसी भी स्थितिमें होंगे ही नहीं और सहज ही दुःख-बीजका नाश हो जायगा।

किसी भी इच्छासे—अनिच्छासे, लौकिक या पारलौकिक किसी भी लाभके लिये एकमात्र भगवान्‌को ही पुकारना चाहिये। भोगी और त्यागी जो वस्तुएँ चाहते हैं, उन सबका इन छःमें समावेश हो जाता है—ऐश्वर्य, यश, श्री, धर्म, वैराग्य और ज्ञान। ये छहों चीजें एक जगह कहीं नहीं मिलतीं। और कहीं कोई-सी मिलती भी है तो वह अपूर्णरूपमें। फिर, जिसके पास है, उसकी इच्छा है वह दे या न दे, परन्तु भगवान् ऐसे हैं कि उनमें ये छहों वस्तुएँ समग्र-

रूपसे हैं—अनन्त हैं ।* और वे इतने उदार हैं कि माँगनेपर चाहे सो दे भी देते हैं। देनेमें उनका कोई नुकसान भी नहीं होता, क्योंकि उनकी पूर्णता ही ऐसी है जो सब कुछ दे देनेपर भी उतनी ही बनी रहती है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यह उनका स्वरूप है । अतएव सभी तरहसे एकमात्र भगवान्‌को ही सर्वसमर्थ, सर्वतः परिपूर्ण और अपना अहैतुक मित्र मानकर उन्हींका आश्रय ग्रहण करना चाहिये । इसीमें कल्याण है ।

(३)

भजन—साधन और साध्य

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपने लिखा कि मैं सात वर्षसे भजन कर रहा हूँ, परन्तु मेरी आधि-व्याधि अभी दूर

---

* ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥
(वि० पु० ६ । ५ । ७४, ७९)

'परिपूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छः प्रकारकी महान् शक्तियोंका नाम भग है । हेय गुण अर्थात् प्राकृत गुणोंके लेशसे रहित परिपूर्ण ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—ये भगवत्‌शब्दवाच्य हैं ।' ऐश्वर्यादि छः प्रकारकी महाशक्तियोंसे सम्पन्न सच्चिदानन्दघन-विग्रह ही श्रीभगवान् हैं ।

नहीं हुई, मेरे दु:खोंका अवसान नहीं हुआ। इसका क्या कारण है? क्या भजन सर्वथा निष्फल है और यदि निष्फल है तो क्यों करना चाहिये?" इसके उत्तरमें निवेदन है कि न तो भजन निष्फल होता है और न भजनको कभी छोड़ना ही चाहिये। बाहरके दु:ख और आधि-व्याधियोंमें मूल हेतु है प्रारब्ध! भगवान् प्रारब्धके भोग भुगताकर आपको भवरोगसे मुक्त कर रहे हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा होता है कि भजन करनेवालेको ज्यादा दु:ख होता दीखता है। वह दु:ख वस्तुतः भजनका फल नहीं है, वह पूर्वकृत किसी ऐसे दुष्कर्मका फल है, जो इस समय फल-दानोन्मुख है। भजनका फल तो पीछे मिलेगा और भजनका फल वस्तुत: अन्त:करणकी शुद्धि है, वह भजनसे हुए बिना रहती नहीं। चाहे दीखे नहीं। अमावस्याकी अँधेरी रात केवल दो ही घंटे शेष रहती है, तब भी अँधेरा ही दीखता है, परन्तु उस समय वस्तुत: रात अधिकांश बीत चुकी होती है। प्रभातका प्रकाश होनेहीवाला होता है। इस बातको वही जान सकता है, जिसके पास घड़ी है या जो नक्षत्रविज्ञानका ज्ञाता है। जो नहीं जानता, वह तो यही समझता है कि अँधेरी रात ज्यों-की-त्यों बनी है। इसी प्रकार भजनसे होनेवाला फल जबतक पूरा प्रत्यक्ष नहीं हो जाता, तबतक वह दीखता नहीं। दीखता भी है तो—जैसे किसी रोगीके ज्वर, सिर-दर्द आदि बहुतसे लक्षण मिटनेपर भी जैसे थोड़ा-सा पेटदर्द भी शेष रहता है, तबतक वह यही कहता और समझता है कि मेरा रोग अच्छा नहीं हुआ—इसी प्रकार उसे भी दीखता है।

फिर, यदि भजनसे दु:ख हुआ सिद्ध भी हो जाय तो वह भगवत्कृपासे भजनके फलस्वरूप भजनमें अधिक लगानेके लिये ही

होता है। दवा कड़वी भी होती है और मीठी भी, जैसा रोग, वैसी दवा। वैसे ही किसीको दुःखके मार्गसे ही—कड़वी दवाकी भाँति—भगवान् अपने परम सुखमय धाममें ले जाते हैं। यह उनकी कृपासे ही होता है। इसलिये कभी यह नहीं मानना चाहिये कि भजन निष्फल होता है। बल्कि विश्वासी भजन-परायण भक्तको तो इसीसे प्रसन्न रहना और भजनको सफल मानना चाहिये कि भजन होता है। भजन ही भजनका फल है। इससे बड़ा फल और क्या होगा। जो लोग भजनका कोई दूसरा फल चाहते हैं, वे तो भजनका महत्त्व ही नहीं जानते।

साधनरूपसे भजन करते-करते समयपर वह 'फलरूप' भजन भी होने लगेगा, जो अपनी ही नहीं, जगत्‌भरकी आधि-व्याधिके नाश करनेमें समर्थ है। जो पुरुष अपनी सारी इन्द्रियों तथा मनको पूर्णरूपसे भगवद्भावमें डुबा देते हैं, उन्हींके द्वारा ऐसा भजन होता है। उनका भगवद्भावाविष्ट चित्त जब किसी कारणवश आधि-व्याधि-पूर्ण संसारकी ओर जाता है, उनके भगवद्-रस-निविष्ट नेत्र जब दुःखमय जगत्‌को देखते हैं, उनकी जरा नजर भी पड़ जाती है, उसी क्षण जगत्‌की वे आधि-व्याधियाँ तथा जगत्‌के वे दुःख नित्य निरामयता, शान्ति और परमसुखके रूपमें परिणत हो जाते हैं। ऐसी शक्ति आ जाती है उसके चित्त और इन्द्रियोंमें। जो चित्त—जो इन्द्रियसमूह पहले जगत्‌से केवल आधि-व्याधिका ही संग्रह करते थे, जो दुःखका ही आवाहन करते थे, वे फिर अपने स्पर्शमात्रसे जगत्‌को दुःखरहित कर देते हैं—उनका संस्पर्श पाते ही जगत्‌की स्थितिमें परिवर्तन हो जाता है। वे फिर देखते हैं जगत्‌को श्रीभगवान्-

से भरा हुआ और उनका नित्य लीलाक्षेत्र, तथा जगत्में होनेवाली प्रत्येक घटनामें वे देखते हैं भगवान्का विविध रसमय मधुर लीला-विलास। ऐसा भजन जिस दिन होगा, उस दिन फिर, इस जीवनको केवल भजनमय बना रखनेकी ही एकमात्र विशुद्ध कामना रहेगी। फिर मुक्ति-सुखके लिये भी भजनका त्याग सहन नहीं होगा। पर ऐसा भजन भी होगा—भजन करते-करते ही। भजन ही साधन है और भजन ही साध्य है।

(४)

भजनके लिये श्रद्धापूर्वक प्रयत्न करना चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। भजन और सद्गुणोंके ग्रहणमें न तो कोई कठिनाई है, न कष्ट है और न किसी प्रकारकी हानि ही है। हमलोग सुनते हैं, पढ़ते हैं, लोगोंसे कहते भी हैं, परन्तु स्वयं करते नहीं। यही बड़ी त्रुटि है। कठिनाई भी केवल इसी बातकी है कि हम श्रद्धापूर्वक चेष्टा नहीं करते। श्रद्धायुक्त चेष्टा हो तो कोई कारण नहीं कि भजन न हो और दैवीसम्पत्तिके गुण न आवें। इस काममें तो भगवान् तथा संतोंकी भी सहायता प्राप्त होती है और इनमें लाभ भी सबसे बड़ा है। आपको मैं क्या समझाऊँ। असलमें मैं अभी स्वयं ही समझा नहीं हूँ। समझता तो मेरे जीवनका प्रत्येक क्षण भजनमें ही बीतता। मैं केवल सद्गुणोंका ही खजाना बन जाता। परन्तु जितना समय दूसरोंको समझानेमे बीतता है, उतना अपने समझनेमें तथा करनेमें नहीं लगता।

आपने मेरे अनुभव पूछे सो मैं क्या बताऊँ। इतना ही बतला सकता हूँ कि करुणा-वरुणालय भगवान्‌की सभी जीवोंपर असीम कृपा है। वे सबके परम सुहृद् हैं, इसलिये मैं भी उनकी कृपासे वञ्चित नहीं हूँ। इतनी विशेषता समझिये कि मुझे समय-समयपर उनकी कृपाका किञ्चित् अनुभव होता है, इससे मुझे उसका प्रत्यक्ष लाभ मिल जाता है। यह भी उनकी कृपा ही है। फिर अनुभव यदि किसीको कुछ होते भी है तो वे उसके अपने लिये ही होते हैं। दूसरोंको बतानेसे उसको कोई लाभ नहीं होता। मान लीजिये मैं कह दूँ कि मुझे अमुक महान् लाभ हुआ है तो इससे आपको क्या मिलेगा। अनुभवोंका विज्ञापन नहीं हुआ करता। वे तो अपने जीवनकी गुप्त सम्पत्ति होते हैं, इसलिये क्षमा करें।

यह स्मरण रक्खें कि भगवान् सबके हैं और सबके लिये एक-से हैं।

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

आप श्रद्धापूर्वक उनका भजन कीजिये, और भगवान्‌को प्रिय लगनेवाले सद्गुणोको धारण कीजिये। फिर आपको स्वयं ऐसे-ऐसे विलक्षण अनुभव होंगे कि जिनको पाकर आप निहाल हो जायँगे।

मनुष्यदेह थोड़े ही दिनोंके लिये है और है भी विघ्न-बाधाओंसे भरा हुआ। अतएव विलम्ब करना बुद्धिमानी नहीं।

(५)

भजनसे ही जीवनकी सफलता

भाई साहेब ! संसारका स्वरूप यही है । हमलोग जो इसको सुख-स्वरूप मान बैठे हैं, इसीसे इसका असली रूप—जो सुखरहित, दु.खालय और दु.खोत्पत्तिका स्थान है (गीतामें देखिये इसको 'असुखम्,' 'दु:खालयम्' और 'दु खयोनि' कहा है), जब सामने आ जाता है तब हम घबरा उठते हैं । यह सुखस्वरूप था ही कब । वह तो हमारी भ्रान्ति थी । जो लोग ससारको सुखरूप मानकर इसमें सुख खोजते हैं, उनको तो अन्तमें रोना ही पड़ता है ! इसमें जो सुख है वह तो भगवान्‌को लेकर है । इसीसे भगवान्‌ने कहा है—'इस अनित्य और असुख लोकको पाकर (यदि वस्तुतः सुख चाहते हो तो) मुझको भजो' (माम् भजस्व) । आपकी मेरी तो अब एक प्रकारसे जीवन-सन्ध्या ही है । बालकों और तरुणोंको भी अपने जीवनका मुख्य ध्येय भगवान्‌को ही बनाना चाहिये । फिर हमलोग तो उन दोनों अवस्थाओंको पार कर चुके हैं । हमारा तो शेष जीवनका प्रत्येक पल अब श्रीभगवान्‌के चिन्तनमें ही बीतना चाहिये । जगत्‌के सृजन-संहार यों ही चलते रहेंगे । इनमें रमनेसे कोई लाभ नहीं । अब तो उन प्रभुका आश्रय ग्रहण करना चाहिये जो अशरणशरण हैं और मुझ-सरीखे अधमोंको भी अपने विरदके कारण अपना लेते हैं । समय बीत रहा है । यहाँकी धन-दौलत, यश-कीर्ति, अधिकार-प्रभुत्व कुछ भी हमारे काम नहीं आयेंगे । यह सब तो यहींके खिलौने हैं । हम-अभागे हैं जो इन खिलौनोंमें ही रमते हैं और इन्हींको जीवनका ध्येय

बनाये रखते हैं। इस समय आपके मनमें जो कुछ ग्लानि या निर्वेद-सा है, इसे सुअवसर मानिये। संसारसे मन हटाकर भगवान्‌में लगाइये। और कुछ न हो सके तो उनकी कृपापर विश्वास करके उनके नामका जप, स्मरण और कीर्तन आरम्भ कर दीजिये। भगवन्नाममें महान् शक्ति है। वह बहुत शीघ्र पाप-तापका नाश करके भगवान्‌को मिला देता है। वस्तुतः नाम और नामी एक ही हैं। नामका प्रेम हो जानेपर तो संसारमें सर्वत्र श्रीभगवान्‌की ही झाँकी होने लगती है। फिर संसारमें ऊँच-नीचका कोई भेद नहीं रह जाता। हर समय और हर स्थानमें नामप्रेमी भक्त प्रेमपूर्वक भगवान्‌का नाम-गान करता हुआ स्वयं पवित्र होता है और जगत्‌को पवित्र करता है ('भुवनं पुनाति')। श्रीमद्भागवतमें कहा है—पृथ्वीमें जो भगवान्‌के जन्मकी और लीलाओंकी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं, उनको सुनते रहना चाहिये और उन गुणलीलाओंका स्मरण करानेवाले नामोंका लज्जा-संकोच छोड़कर गान करते रहना चाहिये। अन्य कहीं भी आसक्ति न रखकर संसारमें विचरना चाहिये। जो इस प्रकार भगवान्‌के दिव्य जन्म-कर्मकी कथाओंको तथा उनके कल्याणमय नामोंको सुनने और गानेका व्रत ले लेता है, उसके हृदयमें अपने परम प्रियतम प्रभुके नाम-कीर्तनसे प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न हो जाता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है और लोक-साधारणकी स्थितिसे ऊपर उठकर वह प्रेमकी मादकतामें कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है, कभी फूट-फूटकर रोने लगता है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारता है तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है। और कभी-कभी आनन्दमत्त हो लोक-लाज छोड़कर नाचने लगता है। यह आकाश,

वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी; ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-लताएँ, नदी, समुद्र—सभी श्रीभगवान्‌के शरीर हैं। इन सब रूपोंमें स्वयं भगवान् ही प्रकट हैं। ऐसा समझकर वह जड-चेतन सभीको अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करता है—

> शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
> र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
> गीतानि नामानि तदर्थकानि
> गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
> एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
> जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
> हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
> त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
> खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
> ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
> सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
> यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
> (११। २। ३९—४१)

अतएव अब इस ग्लानि और दुःखरूप संसारसे उपरत होकर भगवद्भजनमें ही लग जाइये। इसीमें परम कल्याण है और यही मानव-जीवनकी सफलता है।

(६)

भवसागरसे तरनेका उपाय—एकमात्र भजन

सप्रेम हरिस्मरण।

पत्र मिला था। उत्तरमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। मेरी

समझ तो अत्यन्त तुच्छ है, उसका मूल्य ही क्या है; परन्तु ऋषि-प्रणीत शास्त्रों एवं अनुभवी महात्माओंकी यही घोषणा है कि भगवान्‌के भजन बिना जीवका भवसागरसे निस्तार कभी नहीं हो सकता। भजन करते-करते जब अन्तःकरणकी शुद्धि होकर भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण हो जाता है, जब वह केवल भगवान्‌को ही अपना सर्वस्व समझकर यह पुकार उठता है—

पिता माता सुहृद्बन्धुर्भ्राता पुत्रस्त्वमेव मे।
विद्या धनं च कामं च नान्यत् किञ्चित्त्वया विना॥

'मेरे पिता, माता, सुहृद्, मित्र, भ्राता, पुत्र, विद्या, धन और समस्त काम केवल एक तुम ही हो, तुम्हारे बिना कुछ भी मेरा नहीं है।' तब भगवान् उसे अपना लेते हैं और तभी वह भवसागरसे तरकर कृतार्थ हो जाता है। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम-चन्द्रजीके वचन हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

जो माता, पिता, बन्धु, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, मकान, सुहृद् और परिवार—सबकी ममताके धागोंको बटोरकर उनकी मजबूत डोरी बटकर उससे अपने मनको मेरे पदसे (या चरण-कमलसे) बाँध देता है (अर्थात् सब जगहसे ममता खींचकर एकमात्र भगवान्‌को ही जो ममताका विषय बना लेता है) ऐसा वह सज्जन मेरे (भगवान्‌के) हृदयमें वैसे ही बसता है, जैसे लोभीके हृदयमें धन बसता है। अभिप्राय यह कि भगवान् उसको कभी अपने मनसे

उतारते ही नहीं, अत्यन्त प्रेमसे उसे सदा अपने हृदयमें रखते हैं। इसलिये यही बात माननी चाहिये कि एकमात्र भजन ही ऐसा साधन है, जिससे श्रीभगवान् हमारे हो जाते हैं।

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥

---

(७)

लगन होनेपर भजनमें कोई बाधा नहीं दे सकता

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आप लिखते हैं 'मैं गृहस्थाश्रममें फँसा हूँ, परिवारपालनके लिये धन कमाना पड़ता है। इस अवस्थामें साधन-भजन कब और कैसे करूँ।' आपका लिखना बहुत ठीक है। ऊपरसे देखनेपर आपकी बात बहुत ही ठीक और युक्तियुक्त प्रतीत होती है। और यह भी कोई नहीं कह सकता, आप अपने परिवार-पालनके कार्यको छोड़ दें, परंतु यदि गहराईसे विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह विचार वस्तुतः हमारे मनका धोखा ही है। भजन-साधनमें लगन और रुचि होनेपर उसमें कोई भी बाधा नहीं पड़ सकती। शास्त्रोंमें उदाहरण दिया गया है कि 'परव्यसनिनी नारी दिनभर घरके काम-काजमें लगी रहती है, किसी काममें त्रुटि नहीं करती, पर उसका मन दिन-रात अपने इच्छित विषयमें लगा रहता है। उसे वह भूल नहीं सकती।' इसी प्रकार साधक गृहस्थीके सारे कर्म सुचारुरूपसे करता हुआ ही चित्तवृत्तिको भगवान्‌के भजनमें संयुक्त रख सकता है।

भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनको सब समयमें अपना (श्रीभगवान्‌का) स्मरण करते हुए युद्ध करनेकी आज्ञा दी है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(गीता ८ । ७)

जब युद्ध-सरीखा विकट कर्म भी भजन-स्मरणमें बाधक नहीं होता, तब गृहस्थाश्रममें अन्यान्य कर्म कैसे बाधक हो सकते हैं। लगन होनी चाहिये। यह तो हमारा मन ही भाँति-भाँतिके बहाने बताकर हमें प्रतारित किया करता है और हम अपनी लगनके अभावसे उसीको सत्य प्रमाण मानकर हाँ-में-हाँ मिला देते हैं।

यदि आप इस बातको भलीभाँति समझ लें और विश्वास कर लें कि मानव-जीवनका चरम और परम उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है। भगवान्‌की प्राप्तिके बिना जीवन व्यर्थ है और साथ ही यह भी विश्वास कर लें कि संसारके विषय विषरूप हैं, इनके सेवनसे बार-बार मृत्युके मुखमें पड़ना पड़ेगा तो आपकी अपने-आप ही विषय-भोगोंमें अरुचि हो जाय और आप भगवान्‌को भजने लगें।

धनके महत्त्वको जान लेनेपर धनकी आवश्यकतावाले पुरुषको यह समझाना नहीं पड़ता कि वह धनोपार्जनके लिये प्रयास करे। वह अपने-आप ही दिन-रात उसी उद्योगमें लगा रहता है। और यदि उसे कहीं पता लग जाय कि अमुक स्थानपर असीम धनराशि गड़ी है एवं वह तुम्हें मिल सकती है, तब तो वह हजार काम छोड़कर उसकी प्राप्तिके प्रयासमें लग जायगा। इसी प्रकार किसीको मालूम हो जाय कि तुम जिस लड्डूको खाने जा रहे हो, वह सुन्दर है, मधुर है परन्तु उसमें जहर मिला हुआ है, तो चाहे जितनी भूख

लगी हो और लड्डुओंमे चाहे जितना मन आसक्त हो, पर वह लड्डू नहीं खायेगा। इसी प्रकार भगवत्प्राप्तिकी अनिवार्य आवश्यकताका अनुभव होनेपर तथा भजन-साधनसे वे शीघ्र मिलते हैं यह विश्वास होनेपर मनुष्य चाहे जैसे भी हो, भजन-साधन करेगा ही; और यह विश्वास हो जानेपर कि विषय सचमुच विष ही है, वह स्वाभाविक ही उनका त्याग कर देगा। हमलोग भगवान्‌की महत्ता और विषयोंकी विषमताकी बात कहते-सुनते तो हैं, पर वस्तुत. हमारा विश्वास ऐसा नहीं है। इसीलिये हममें न तो भगवद्भजनकी लगन है, न विषय-त्यागकी ही।

श्रीतुलसीदासजी महाराज तो कहते हैं कि 'जैसे कामीको नारी प्रिय होती है और लोभीको धन प्रिय होता है, वैसे ही मुझको निरन्तर हे भगवान् श्रीरामचन्द्र! आप प्रिय लगें।'

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

भगवान्‌में ऐसी प्रियता होनेपर तो हम उन्हें भूल ही नहीं सकते, चाहे घरका कितना ही काम हो। जबतक ऐसा न हो, तबतक रोग-नाशके लिये जैसे दवा ली जाती है, वैसे ही भव-रोग-नाशके लिये दवाके रूपमें भगवान्‌का भजन करना चाहिये।

यदि हम अपनेको भगवान्‌का सेवक मान लें और घरके स्वामी भगवान्‌को, तो फिर घरका भी प्रत्येक काम भगवान्‌की सेवा या भजन ही बन जायगा। उस अवस्थामें मुखसे भगवान्‌का नाम लेते हुए और मनसे भगवान्‌का चिन्तन करते हुए हम बड़ी आसानीसे घरके सारे काम सुचारुरूपसे रस प्राप्त करते हुए करेंगे।

हमारा जीवन भजनमय ही हो जायगा । अतएव आप इस धारणाको त्याग दीजिये कि घरका काम करते हुए भजन नहीं बनता । वर यह दृढ़ धारणा कीजिये कि निरन्तर भजन करते हुए ही घरका सारा काम भलीभाँति हो सकता है । यहाँतक कि सारा काम ही भजन बन सकता है ।

---

(८)

नामसे पापका नाश होता है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । धन्यवाद । आपके प्रश्नोंपर अपना विचार इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌के नामके बलपर पाप नहीं हो सकता, पापका नाश होता है । क्या सूर्यके प्रकाशके बलपर अन्धकार फैलाया जा सकता है ? क्या जहाँ अन्धकार है, वहाँ सूर्यका प्रकाश भी है ? इसी प्रकार जहाँ पाप है, वहाँ नाम या नामका बल नहीं है । वहाँ तो नामका अनादर या अवहेलना है । नाम और भगवान् दोनोंके प्रति द्रोहकी सूचना है । दूसरे शब्दोंमें वह महान् नामापराध है । इसका दण्ड है—'अन्धतमसाच्छन्न घोर नरक ।'

नाम वह अग्नि है, जो पापराशिके ईंधनको जलाकर भस्म कर देती है । उस आगसे पापका नया ईंधन नहीं निकल सकता । सूर्यका प्रकाश रात्रिके गहन अन्धकारको विलीन कर देता है । उस समय नूतन अन्धकारकी सृष्टि नहीं हो सकती । जो नामकी शरण लेता है, वह भगवान्‌के प्रति श्रद्धालु होता है । वह पापके बन्धनसे छूटनेके लिये भगवान्‌की शरणमें जाता है । उसको पापसे छूटनेकी

चिन्ता रहती है। उसके मनमें पाप करनेका द्विगुण उत्साह नहीं हो सकता। वह पुराने अभ्यासवश विवश होकर पाप कर सकता है, फिर सावधान होता है, फिर फिसलता है। इस प्रकारकी दशा उसकी हो सकती है, किंतु वह पापसे दूर रहनेके लिये ही प्रयास करता है। पाप हो जानेपर उसके मनमें बड़ी ग्लानि होती है। वह अपार वेदनाका अनुभव करता है। प्रभुसे रो-रोकर प्रार्थना करता है कि मुझे पापोंसे बचाइये। ऐसे साधकको भगवान् बचा लेते हैं। वह पहलेका पतित है, भगवान्‌की शरणमें आकर उनके नामकी गङ्गा-में नहाकर पवित्र हो गया है। अतएव भगवान् पतितपावन हैं। यदि भगवान्‌की शरणमें आकर भी कोई पापाचारी, पतित बना रह जाय, तभी उनकी पतित-पावनतामें सन्देह किया जा सकता है। मनुष्य पहले कितना ही दुराचारी क्यों न रहा हो, यदि नाम और भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेता है तो भगवान्‌के शब्दोंमे उसे 'साधु' ही मानना चाहिये, क्योंकि अब उसने ठीक रास्ता पकड़ लिया है, उत्तम निश्चयको अपना लिया है—

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

अब वह पापी नहीं रहेगा। पापमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी। उसको तो अब शीघ्र ही महात्मा बनना है—'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।'

पर जो भगवान्‌का नाम लेकर पाप करता है, वह तो असुरों और दैत्योंकी भाँति भगवान्‌के साथ खुला विद्रोह करता है। असुरों और दैत्योंने भगवान् विष्णुको अपना शत्रु समझा था, अतः वे उनके स्वरूप-भूत धर्मपर कुठाराघात करनेके लिये जान-बूझकर पापको बढ़ावा देते थे। पापाचार ही उनकी युद्धघोषणा या चुनौती थी। आज भी जो

लोग नाम लेकर जान-बूझकर पाप करते हैं, वे नामापराधी असुर और दैत्योंकी कोटिमें हैं। समाजमें पाप और भ्रष्टाचार फैलाना उन्हीं-का काम है। भगवन्नामका आश्रय लेनेवाले भक्त तो स्वभावसे ही धर्मपालक और धर्मप्रचारक होते हैं।

(२) 'भगवन्नाममे पाप-नाश करनेकी जितनी शक्ति है, उतनी पापी मनुष्यमें पाप करनेकी नहीं है।' यह कथन सर्वथा सत्य है। नामके साथ भगवान्‌की शक्ति है—जो अपरिमेय, असीम है। मनुष्य क्षुद्रतम जीव है, फिर पापी जीव तो और भी निकृष्ट है, उसमे शक्ति ही क्या है? इससे यह समझना चाहिये कि नामकी शक्ति बहुत बड़ी है, उससे हमारा उद्धार हो जायगा। यदि आजतक हमसे कोई शुभ कर्म नहीं बन सका, सदा पाप-ही-पाप हुआ है, तो भी हताश होने, घबरानेकी बात नहीं है। शीघ्र-से-शीघ्र हमें नामकी शरण लेनी चाहिये। नाम पापका विरोधी है, अतः उसकी शरण लेनेका अर्थ है पापसे मुँह मोड़ लेना। नाव और नाविकको अपना शरीर सौंप दिया जाय, तभी हम सागर या सरिताके पार हो सकते हैं। एक पैर जमीनपर और एक नावमें रक्खें तो गिरकर डूबना ही है। इसी प्रकार नामको पूर्णतया आत्मसमर्पण करनेवाला ही नामका बल रखता है। नाम और पाप दोनोंको चाहनेवाला डूबता है। वास्तवमें पापको चाहनेवाला नामकी मखौल उड़ाता है, वह नामका बल मानता ही नहीं। जो पूर्णतया नामनिष्ठ हो जाता है, उसके समस्त पाप भस्म हो जाते हैं—चाहे वे जान-बूझकर किये गये हों या अनजानमें।

(३) नाम लेनेमें किसी विधिकी अपेक्षा नहीं, हँसी, भय, क्रोध, द्वेष, काम या स्नेहसे भी नाम लेनेपर उस नामसे उसके पूर्वकृत

पाप अवश्य नष्ट हो जाते हैं। परंतु जब वह अपना यह पेशा बना लेता है कि 'मैं पाप करूँगा और नाम लेकर उन्हें नष्ट कर दूँगा,' तब वह नामापराधी हो जाता है। उस दशामें नामापराध नामक नूतन और बड़ा भयङ्कर पाप वह कर बैठता है। यही उसको डुबो देता है। इससे बचना चाहिये। कारणका संयोग मिल जानेपर कार्य हो ही जाता है। यदि हँसी-मजाक, क्रोध, द्वेषसे भी किसीके शरीरसे आगकी चिनगारी छुआ दी जाय तो उसमें जलन होगी ही। बालकको विषके गुणका ज्ञान नहीं है, उसके प्रभावपर उसकी श्रद्धा या विश्वास नहीं है तो भी उसे खानेपर उसकी मृत्यु हो ही जायगी। इसी प्रकार नामोच्चारणमात्रसे पापका नाश होता है—भले वह हँसीमें, भयसे या द्वेषसे ही लिया जाय। अनिच्छासे या मनको ओर बातोंमें लगाये रखकर भी यदि हम भोजन करते हैं तो भी उससे भूख तो मिट ही जाती है, इसी प्रकार अन्यमनस्क होकर भी नाम लेनेसे पाप-नाश हो ही जाता है। हाँ, जब हम पाप करके नामसे उसे मिटा देनेकी भावना रखकर बार-बार नाम लेते और पाप करते रहेंगे तो एक नवीन अपराध बनता जायगा, जिसे हम 'नामापराध' कहते हैं। यह समस्त पापोंसे बढ़कर है। नामापराधसे छुटकारा भी तभी मिलता है, जब पापसे सर्वथा बचे रहने तथा भविष्यमें 'नामापराध' न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा मनमें लेकर एकनिष्ठ होकर भगवन्नामोंका अधिकाधिक जप किया जाय। क्योंकि 'नामापराधयुक्ताना नामान्येव हरन्त्यघम्।' नामापराधका पाप भी नाम ही हरता है। शेष भगवत्कृपा।

नामनिष्ठाके सात मुख्य भाव

सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । भगवन्नामकी अमोघ शक्ति है, उसके द्वारा बहुत ही शीघ्र मनुष्य कल्याणको प्राप्त कर सकता है । नामपरायणतामें—नाममे विश्वास, नाममे आदरबुद्धि, नाममें प्रेम, निष्कामभाव, नामार्थ-चिन्तन, निरन्तरता और गोपनीयता–ये सात भाव मुख्य हैं । इन भावोंसे युक्त होकर नामाश्रय करनेवाले पुरुषोंको नामके चमत्कारपूर्ण प्रभावके शीघ्र दर्शन होते हैं—

(१) किसी भी अन्य साधनका तिरस्कार न करते हुए नाममें दृढ़ और अनन्य विश्वास होना चाहिये । नामसे ही सब कुछ हो सकता है और हो जायगा । नामकी जितनी जो कुछ महिमा शास्त्रों और संतोंने गायी है, सारी सत्य है । ऐसा विश्वास होना चाहिये । नाम-विश्वासके सम्बन्धमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका निम्नलिखित पद स्मरण रखने योग्य है—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो ॥
करम, उपासन, ग्यान, बेदमत, सो सब भाँति खरो ।
मोहि तो 'सावनके अंधहि' ज्यों सूझत रंग हरो ॥
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो ।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परुसि धरो ॥
स्वारथ औ परमारथहू को नहिं कुंजरो नरो ।
सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक तरो ॥
प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी, तहँ ताको काज सरो ।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर, हौं सिसु अरनि अरो ॥

संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो रामनामहि ते तुलसिहि समुझि परो ॥
(विनय-पत्रिका २२६)

(२) नाममें वैसी ही आदरबुद्धि होनी चाहिये, जैसी भक्तकी भगवान्‌में होती है। 'सत्कारसेवित' अभ्यास ही स्थिर हुआ करता है। नाम साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप है—इस प्रकार नामके स्वरूप और प्रभावको जानकर अत्यन्त मनोयोग और श्रद्धाके साथ जो नाम-जप होता है, वही आदरबुद्धियुक्त माना जाता है। यद्यपि नामकी स्वाभाविक शक्ति ऐसी है कि तिरस्कार-अवहेलना और असम्मानके साथ निकला हुआ नाम भी पापोंका नाश करता है, जैसे किसी भी प्रकारसे स्पर्श हो जानेपर अग्नि ईंधनको जला ही देती है, तथापि आदरयुक्त नाम-जपकी बड़ी महिमा है।

(३) नाममें प्रेम होना चाहिये। प्रेमका फल आनन्द है। जिस वस्तु या व्यक्तिमें हमारा अनुराग या प्रेम होता है, उसकी स्मृति आते ही चित्त आनन्दसे उत्फुल्ल हो जाता है, उसका नाम सुनने अथवा लिये जानेपर चित्तसागरमें आनन्दकी तरङ्गें उठने लगती हैं।

इसी प्रकार नाममें प्रेम होनेपर एक-एक नामोच्चारणमें साधकको ऐसा अनुपम रस प्राप्त होता है कि वह उसीमें तन्मय हो जाता है। फिर नामको छोड़कर क्षणभर भी वह रह नहीं सकता। 'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।'

(४) नाममें निष्कामभाव होना चाहिये। जिसको नामके स्वरूप, प्रभाव, महत्त्व और रहस्यका पता है, वह नाम-जप करके

नामके अतिरिक्त और क्या चाहेगा। नामके बदलेमें जो और कुछ चाहता है, उसने तो नामका कोई महत्त्व जाना ही नहीं। नामके बदलेमें संसारके सुखभोग चाहना अमृतके बदले विष चाहना है, और स्वर्गादि चाहना बहुमूल्य रत्न देकर पत्थर चाहना है। नाम-जपका फल नामनिष्ठा ही होना चाहिये।

(५) भगवान्‌के नाममें और नामी भगवान्‌में अभेद है, भगवान्‌की भाँति ही भगवान्‌का नाम भी चिन्मय है—इस बातको याद रखते हुए नाम-स्मरण करना नामके 'अर्थका चिन्तन' करना है। 'मैं जो भगवान्‌का नाम-जप कर रहा हूँ सो भगवान्‌का ही स्पर्श कर रहा हूँ' इस प्रकारकी निश्चित अनुभूति प्रत्येक नामोच्चारणके साथ-साथ होती रहनी चाहिये। जबतक अनुभूति न हो, तबतक ऐसी भावना करनी चाहिये।

(६) नाम-जप तैलधारावत् लगातार होते रहना चाहिये। संसारके सारे काम नाम-स्मरण करते हुए ही हो।

(७) नाम-स्मरणको, जहाँतक हो, कृपणके धन और जारके प्रेमकी भाँति छिपाकर रखना चाहिये। इसीमें उसकी मर्यादा है और इसीमें उसकी सुरक्षा है।

इसका यह अर्थ नहीं कि जो इन भावोंसे नाम-जप न कर सकते हो, वे नाम-जप ही न करे। किसी भी भावसे नाम-जप करना उत्तम है। कामनासे, क्रोधसे, भयसे, लोभसे, हँसीसे और सबको सुना-सुनाकर भी यदि नाम-जप किया जाय तो वह भी न करनेकी अपेक्षा बहुत उत्तम है। उससे भी पापोंका नाश होकर अन्तमें नामनिष्ठा-लाभ तथा भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥

कुछ भी न हो तो जीभसे लगातार नामकी रट लगती रहनी चाहिये ।

(१०)

श्रीभगवान् ही गुरु हैं–भगवन्नामकी महिमा

प्रिय बहिन ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपने दीक्षा नहीं ली सो कोई हर्ज नहीं । दीक्षाकी कोई आवश्यकता नहीं है । आप जगद्गुरु भगवान् श्रीराम या भगवान् श्रीकृष्णको ही अपना परम गुरु मानिये और रामचरितमानस या गीताका पाठ शुरू कीजिये । रामायण और गीता भगवान्‌के मन्त्र हैं । बिना दीक्षाके किसीको पानी देना पाप है—इन सब बातोंको बिल्कुल मत मानिये । आजकल गुरुओंकी भरमार है । किसीसे कान फुँकवा लेनेसे ही कुछ नहीं होता । मनुष्यका वास्तविक कल्याण तो साधन-भजनसे ही होता है । परमार्थी गुरु भी परम कल्याण करते हैं । पर वैसे गुरुका मिलना बहुत दुर्लभ है । फिर स्त्रियोंको तो गुरुकी कोई आवश्यकता नहीं है, न विधान ही है । सधवाके लिये उसका पति ही गुरु है और विधवाके लिये परम पति भगवान् परम गुरु हैं । आजकल देखा जाता है बहुत-सी भोली स्त्रियाँ गुरुओंके फेरमें पड़कर घर-परिवारमें एक भयङ्कर अशान्ति और कलहका वातावरण उत्पन्न कर देती हैं और शास्त्रविरुद्ध आचरण करके अपना भी पतन करती हैं।

आपने लिखा—'मैं अपने पूज्यजनोंकी सेवा करना धर्म समझती हूँ पर किन्हींसे दीक्षा लेना या उनकी जूँठन खाना अथवा एकान्तमें सेवा करना अपने स्वभावसे निन्दनीय समझती हूँ ।' यह बहुत ही

उचित है। किसीकी भी जूँठन नहीं खानी चाहिये और एकान्तमें परपुरुषसे मिलनेको तो महान् पातक एवं दुराचारका कारण मानकर उससे सर्वथा दूर रहना चाहिये। जो गुरु परस्त्रीसे एकान्तमें सेवा कराना चाहते हैं, उनपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। घरके पूज्यजनोंकी सेवा भी बड़ी सावधानीसे करनी चाहिये। पुरुष-जाति आजकल बहुत ही हीनचरित्र हो गयी है। उससे सावधान रहनेमें ही लाभ है।

आप श्रीरामचरितमानसका पाठ करती हैं सो बड़ी अच्छी बात है। मालापर नामजपसे डरनेकी क्या आवश्यकता है? ज्यादा नाम लेनेका अभिमान हो जायगा, इस डरसे जप न करना तो बड़ी भूलकी बात है। नामजप करनेसे चित्तके दुर्गुणोंका नाश होता है और सद्गुण अपने-आप आते हैं। अभिमानसे जरूर बचना चाहिये, पर भजनसे कभी नहीं हटना चाहिये। भगवान्‌के नामकी शक्तिपर विश्वास करके यह निश्चय करना चाहिये कि नाम-जपसे मेरे मनमें अभिमान आदि दोष कभी उत्पन्न नहीं हो सकते, वर मेरे मनमें जो पहलेके दोष हैं, उन सबका भी नाश हो जायगा। नामका बड़ा प्रभाव है। भगवन्नामसे सारे पाप-ताप सहज ही नष्ट हो जाते हैं और श्रद्धापूर्वक नाम लेनेपर तो असम्भव भी सम्भव एवं अमङ्गल भी मङ्गलरूप बन जाते हैं।

शिवपुराणमें कहा है—

अग्निश्च शीततां यातो जलं च स्थलतां गतम्।
स्थलं च जलतां यातं विषं चामृततां गतम्॥
शस्त्राणि पुष्पभावं च हरेर्नामस्य कीर्तनात्।

(विश्वेश्वरसंहिता १० । ३६)

'श्रीहरिनामकीर्तनसे अग्नि शीतल हो जाती है, जल स्थलरूपको प्राप्त हो जाता है, स्थल जल बन जाता है, विष अमृतमें परिणत हो जाता है और शस्त्रसमूह पुष्पके समान कोमल हो जाते हैं।'

फिर कलियुगमें तो भगवान्‌का नाम ही जीवके लिये एक आधार है—

है हरि-नामको आधार।
और या कलिकाल नाहिन रह्यो बिधि ब्यौहार॥
नारदादि सुकादि संकर कियो यहै विचार।
सकल श्रुति दधि मथत काढ्यो इतो ई घृतसार॥
दसहु दिसि गुन करम रोक्यो, मीनको ज्यों जार।
सूर हरिको सुजस गावत, जेहि मिटै भवभार॥

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥

कलि नाम काम तरु राम को।
दलनिहार दारिद दुकाल दुख, दोष घोर घन घाम को॥

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(श्रीमद्भा० १२। ३। ५२)

कृत जुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥

इन सब वचनोंपर विश्वास करके भगवन्नामका जप अवश्य करना चाहिये। इसमें मङ्गल-ही-मङ्गल है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

भगवन्नामका महत्त्व

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला। विशुद्ध होकर तथा सारे पापोंको छोड़कर जो भगवान्‌का नाम लिया जाता है, उसका तो कहना ही क्या है । हमलोगोंको यही आदर्श सामने रखना चाहिये कि भगवन्नाम लेनेपर हमारे हृदयमें पाप-संस्कारका लेश भी न रहे; परंतु जो लोग अभी पापसे नहीं छूटे हैं, इच्छा न होनेपर भी जिनके मन-तनसे पापाचरण बन जाते हैं, वे क्या करें ? उनके पापनाशका उपाय भी तो नाम-जप ही है । अतएव पाप नाश होनेके बाद नाम-जप करेंगे, ऐसी धारणा ठीक नहीं । पहले नाम-जप करके पापोंका नाश कर लीजिये, फिर विशुद्ध होकर परम प्रेमपूर्वक नाम-जपका विलक्षण आनन्द लूटिये । भगवान्‌के नाममें विलक्षण पापनाशिनी शक्ति है । जिस किसी प्रकार भी भगवान्‌के नामका जीभसे स्पर्श हो जाना चाहिये, उससे पाप-नाश होते हैं ।

स्कन्दपुराणमें आता है—

हास्याद् भयात्तथा क्रोधाद् द्वेषात् कामादथापि वा ।
स्नेहाद्वा सकृदुच्चार्य विष्णोर्नामाघहारि च ॥

(वैशाख० २१ । ३६)

‘हँसीसे, भयसे, क्रोधसे, द्वेषसे, कामसे या स्नेहसे—किसी भी प्रकारसे एक बार भगवान्‌के नामका उच्चारण पापोंका नाश करनेवाला होता है ।’

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
(६।२।१४)

'सकेतसे, हास-परिहाससे, स्तोभसे (विश्रामके लिये), अवहेलनासे—किसी प्रकार भी भगवान्‌का नाम लेनेपर वह पापोंका अशेष हरण करनेवाला होता है।'

यह उक्ति तो प्रसिद्ध ही है—

सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम।

'श्रद्धासे हो या अवहेलनासे, कोई मनुष्य एक बार भी श्रीकृष्णका नाम ले लेता है तो वह उसे तार देता है।'

(१२)

जप परम साधन है

सप्रेम हरिस्मरण। पत्र मिला, उत्तरमें कार्यवश विलम्ब हो ही जाता है। इसके लिये खेद नहीं मानना चाहिये। नित्यनियम पूर्ववत् चल रहा है, सो ठीक है, चलना ही चाहिये। आजकल आने-जानेमें बड़ी असुविधा है, अतः आना नहीं चाहिये।

गायत्री और नामका जप करते काफी समय हो गया, सो बड़ा अच्छा है। इससे बढ़कर और है ही क्या? साधनसे कभी भी ऊबना नहीं चाहिये। ठीक रास्ता जाननेकी इच्छा लिखी सो आप इस गायत्री तथा नाम-जपको क्या बेठीक रास्ता मानते हैं? यही ठीक रास्ता है,

ईसीपर विश्वासपूर्वक चलते रहे। इस समय चाहे आपको इससे लाभ न दीखे, पर लाभ अवश्य हुआ है और होगा। जप चलता है, यही एक बड़ा लाभ है। जपके लाभको तो कोई रोक नहीं सकता। मनुष्यके जीवनमे उसके द्वारा भगवान्‌का स्मरण और जप होता रहे, यही तो करना है। भगवान्‌ने तो जप-यज्ञको अपना स्वरूप बतलाया है। 'यज्ञाना जपयज्ञोऽस्मि।' एकान्त मिले या न मिले, उपांशु हो या न हो—इसकी चिन्ता छोड़कर जिस तरहसे भी हो, जपका क्रम चालू रहने दे। अपने साध्य और साधनमे कभी संदेह नहीं करना चाहिये। चित्तमें नाना प्रकारके खयाल दौड़ाकर वहम न पैदा होने दे।

हिंदू-समाजकी वर्तमान अवस्थापर खेद होना स्वाभाविक है। भगवान्‌से प्रार्थना करें और अपनेसे जो हो सके, करें। तभी हालत सुधर सकती है। शेष प्रभु-कृपा।

---

(१३)

भगवान्‌के नामोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला था। उत्तरमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें।

भगवान्‌के नामोंमें छोटा-बड़ा कोई नहीं है। जिसको जिस नाममें रुचि हो, जो प्रिय लगे वह उसीका जप-कीर्तन करे, परंतु दूसरे किसीको भी छोटा न समझे, न किसीकी निन्दा करे। जैसे एक ही भगवान्‌के अनेक स्वरूप हैं, वैसे ही अनेक नाम भी हैं। भगवान् दो नहीं हैं। जो भगवान्‌के जिस नाम-रूपका उपासक हो, वह उसी नाम-रूपकी उपासना करे, पर यह समझे

कि दूसरे जितने नाम-रूप हैं, सब मेरे ही भगवान्के हैं । जो दूसरे नाम-रूपोंको किसी दूसरे भगवान्के मानकर उनकी निन्दा करता है, वह अपने ही भगवान्को सीमित और अल्प बनाता है । श्रीकृष्ण-का उपासक यह माने कि श्रीराम, श्रीविष्णु, शिव, गणेश, दुर्गा, सूर्य, मुसल्मानोंके अल्लाह, खुदा, ईसाइयोंके परम पिता सब मेरे ही श्रीकृष्णके स्वरूप हैं और उन्हींके नाम हैं । इसी प्रकार दूसरे नाम-रूपोंके उपासक भी मानें । ऐसा माननेपर न तो अनन्यतामें बाधा आती है, न सम्प्रदायके नामपर राग-द्वेष बढ़ता है और न भगवान्के नामपर भगवान्की अवज्ञा ही होती है । अतएव हमलोगोंको चाहिये कि हम अपने इष्टका नाम-जप करें और दूसरोंके इष्टको भी अपने ही इष्टका स्वरूप समझें; क्योंकि भगवान् एक ही हैं ।

---

(१४)

भवरोगकी दवा

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण ! पत्र मिला । शान्तिकी प्राप्तिका सहज उपाय है—भगवान्को अपना परम सुहृद् मानना और भगवान्-का सतत स्मरण करते रहना । भगवत्कृपापर विश्वास और भगवान्का स्मरण—ये दो ऐसी रामबाण दवा हैं कि इनसे सारे भवरोगोंका, सारे अशान्ति-उपद्रवका सर्वथा नाश हो जाता है । आप इस दवाको आजमाकर देखिये ।

बुरे आचरणोंको हटानेके लिये सत्सङ्गका आश्रय लेना चाहिये । सद्ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये; और विषयलोलुपता बढ़े, ऐसे प्रत्येक प्रकारके सङ्गसे अपनी प्रत्येक इन्द्रियको बचाना चाहिये ।

जहाँतक बने किसीकी निन्दा नहीं करनी चाहिये और न किसीका दोष देखना चाहिये तथा अपने पास तन-मन-धन जो कुछ भी है, सबको भगवान्‌का समझकर भगवान्‌की सेवामें लगाना चाहिये ।

(१५)

भगवच्चिन्तनसे बेड़ा पार

सप्रेम हरिस्मरण । पत्र मिला, धन्यवाद । आप दुखी हैं, आपको जगत्‌में अपमान मिल रहा है, आपके पास स्वस्थ तन नहीं, धन नहीं और बुद्धि नहीं है, इसीलिये सुख नहीं है—ऐसी आपकी धारणा है ।

यदि वस्तुतः आपकी ऐसी ही परिस्थिति है तो आपको प्रसन्न होना चाहिये । इसी अवस्थामें मनुष्य जगत्‌की ओरसे मोह-ममता हटाकर भगवान्‌की ओर बढ़ता है । भगवान् जिसपर बड़ी दया करते हैं, उसीके सामने ऐसी परिस्थिति लाकर रखते हैं । निश्चय ही भगवान् आपपर कृपादृष्टि डाल रहे हैं । आपको अपनी शरणमें लेनेको उत्सुक हैं । अब आपका काम है कि इस परिस्थितिसे लाभ उठायें । संसारके मनुष्य यहाँ दुःख और अपमान पाकर भी इसीमें रचे-पचे रहते हैं । सौभाग्यकी बात है कि आपको जगत्‌के स्वरूपका वास्तविक अनुभव हुआ । अब आप यह निश्चय करें कि दीनबन्धु भगवान्‌के सिवा कोई भी अपना नहीं है । यह जगत्—यह शरीर अनित्य और दुःखरूप है—'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्'—इसे पाकर भगवान्‌का भजन करो । भजन ही जीवनका सार है ।

आप सुख, स्वास्थ्य, धन, मान या अपना उद्धार—जो कुछ भी चाहें, उसकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है भगवान्‌का भजन। भजन करनेमें कोई कठिनाई नहीं है। अपना तन, मन, धन—जो कुछ भी अपना कहा जानेवाला हो, सब कुछ मनसे भगवान्‌को अर्पण कर दें। आप भगवान्‌के हो जायँ। सोयें भगवान्‌के लिये, जागें भगवान्‌के लिये। सब कार्य, सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये हो, भगवान् ही अपने लक्ष्य, अपने प्राणोंके आराध्य बन जायँ। ऐसी अवस्थामें जो सुख मिलेगा, उसकी कहीं तुलना नहीं है। आप घर न छोड़ें, काम न छोड़ें, केवल भगवान्‌से नाता जोड लें, उनके ही हो जायँ। सब कार्य करते हुए भगवान्‌का चिन्तन करें, भगवान्‌का चिन्तन करते हुए ही सब काम करें। बेडा पार है। शेष प्रभुकी कृपा।

(१६)

कीर्तन और कथासे महान् लाभ

प्रिय भैया! पत्र मिले बहुत दिन हो गये। तुम्हारे लिये मेरे दो अनुरोध हैं—

(१) प्रतिदिन किसी समय घरके सब लोग मिलकर कम-से-कम पद्रह मिनट श्रीभगवान्‌के नामका कीर्तन किया करो, और—

(२) प्रतिदिन प्रातःकाल या रात्रिमें, जब भी फुरसतका समय हो, कम-से-कम एक घंटे भगवान्‌की कथा सुनो-सुनाया करो। कथाका प्रसङ्ग भगवान्‌की सरस मधुर लीलाका हो अथवा सरल आत्मोन्नतिकारक सदाचार, विवेक, वैराग्य, भक्ति और भगवत्-स्वरूपके ज्ञानका बोध देनेवाला हो। श्रीमद्भागवत,

महाभारतके चुने हुए प्रसङ्ग, श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भगवद्गीता, पुराणोंके चुने हुए कथानक, सत और भक्तचरित्र तथा महापुरुषोंकी जीवनियाँ—इसके लिये बहुत उपयोगी हैं। इस नित्यकी भगवच्चर्चामें कोई आडम्बर न हो। ऐसे ग्रन्थ या प्रसङ्ग चुने हुए रहें और घरमें जो कोई भी पढ़कर अच्छी तरह सुना सकता हो, वही सुना दे तथा सब लोग आदर एवं भक्तिभावसे उन्हें मन लगाकर सुनें।

मेरी समझसे इन दो साधनोंसे तुम्हारे घरका वातावरण पवित्रतम हो सकना है। यों समझानेसे बात नहीं समझमें आती, पर वही बात जब कथाप्रसङ्गमें आ जाती है, तब उसका सहज ही ग्रहण हो सकता है।

ये दो ऐसे साधन हैं, जिनका घर-घरमे प्रवेश होना चाहिये। घरका वातावरण और घरके लोगोंका स्वभाव शुद्ध तथा भगवदभिमुखी करनेके लिये ये दोनों साधन बड़े ही प्रभावशाली हैं। करके देखो, और हो सके तो अपने मित्रोंमे भी इनका प्रचार करो। इनसे घर और देशका सुधार तो होगा ही। मनुष्य-जीवनके चरम उद्देश्य भगवत्प्राप्तिका पथ भी बहुत सहज हो जायगा।

(१७)

भगवान्‌के लिये अभिमान छोड़ो

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपको भगवान्‌के न मिलनेका दु.ख है, यह तो बड़ी अच्छी बात है, पर आप जो उनपर नाराज हैं और यह सोचते हैं कि 'इतना चाहनेपर भी वे नहीं सुनते तो फिर कोई उन्हें क्यों भजे?' यह ठीक नहीं

है । सच बताइये, क्या आपके मनमें केवल उन्हींकी चाह है ? क्या अन्यान्य वस्तुओंकी वासना रात-दिन आपके मनमें नहीं लहरा रही है ? यदि है तो फिर आप उन्हें कैसे दोष दे सकते हैं ? संसारकी भी कोई दुर्लभ चीज तबतक नहीं मिलती, जबतक उसके लिये अनन्य नहीं तो, कम-से-कम मुख्यभावसे प्रयत्न नहीं किया जाता । फिर भगवान् तो सर्वलोकमहेश्वर हैं । सर्वशिरोमणि हैं । पर इनके लिये अनन्यभाव तो दूर रहा, मुख्यभाव भी तो नहीं है । हम तो इन्हें वैसे ही चाहते हैं, जैसे घरमें और भी बहुत-सी छोटी-बड़ी चीजोंको चाहते हैं । बताइये, यह सच है या नहीं ? दूसरा कोई होता तो शायद आपकी बात सच भी मानता, मैं तो जानता हूँ कि आप रात-दिन संसारके विभिन्न पदार्थोंके पीछे परेशान रहते हैं । शायद एक मिनटको भी आपका मन भोगपदार्थोंकी स्मृतिको नहीं छोड़ता । फिर आप कैसे यह कह सकते हैं कि आपके इतना चाहनेपर भी भगवान् आपकी नहीं सुनते ? मैं तो समझता हूँ, वे आपकी बहुत सुनते हैं । न सुनते होते तो भोग-जगत्‌में रचे-पचे रहनेपर भी आपके चित्तमें जो कभी-कभी भगवान्‌की स्मृति होती है और उन्हें पानेकी मन्दतम भी कामना जाग्रत् होती है, सो कैसे होती ? आपसे यही अनुरोध है कि आप भजन करते रहिये और यथासाध्य सत्पुरुष या सद्‌ग्रन्थोंका सङ्ग भी कीजिये । भगवान्‌की लीला-कथा सुनते-पढ़ते और उनका पवित्र नाम लेते-लेते जब कभी उनमें आपकी आसक्ति हो जायगी और उनको पानेकी आकाक्षा सचमुच जग उठेगी, तब आपके हृदयमें विरहकी आग पैदा हो जायगी । वह अग्नि सारे प्रतिबन्धकोंको जलाकर ऐसा शुभ्र प्रकाश फैलायेगी कि फिर भगवान्‌की

मनोमोहिनी झाँकी आपके सामने होगी और आप उसे पाकर निहाल हो जायँगे ।

राम राम रटते रहो, जब लग घटमें प्रान ।
कबहुँ दीनदयालके, भनक परैगी कान ॥

दूसरी बात यह है कि भगवान्‌की प्राप्ति असलमें उनकी कृपासे ही होती है । मनुष्यको भजन करना चाहिये उनकी कृपाकी अनुभूतिके लिये ही । कहीं भी मनमें अहंकार नहीं आना चाहिये । वैराग्य, ज्ञान और भक्तिका अहंकार भी बड़ा बाधक होता है । व्रजमें भगवान्‌के मधुर मिलनपर अभिमान करनेवाली प्रधाना गोपाङ्गनाको अकेली छोड़कर भगवान् इसीलिये अन्तर्धान हो गये थे । भगवान्‌की कृपासे ही उनके दासत्वका और उनकी सेवा-भक्तिका अधिकार प्राप्त होता है । रो-रोकर जब भक्त अपने सारे अहंकारको बहा देता है, तब उसे भगवान्‌की कृपा मिलती है । महाकवि रवीन्द्रनाथने भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए बहुत सुन्दर शब्दोंमें कहा है—

आमार माथा नत करे दाओ हे तोमार चरणधूलार तले ।
सकल अहंकार हे आमार डुबाओ चोखेर जले ॥
निजेरे करिते गौरव दान निजेरे केवलि करि अपमान ।
आपनारे शुधू घेरिया घेरिया घूरे मरि पले पले ॥
सकल०

आमारे ना येन करि प्रचार आमार आपन काजे ।
तोमारि इच्छा कर हे पूर्ण आमार जीवन माझे ॥
याचि हे तोमार चरम शान्ति पराने तोमार परम कान्ति ।
आमारे आड़ाल करिया दाँड़ाओ हृदयपद्म दले ॥
सकल०

'हे प्रभो ! अपनी चरणधूलिके नीचे मेरे मस्तकको झुका दो। मेरे सारे अहंकारको आँखोंके जलमें डुबा दो (इतने ऑसू बहें कि उसमें सारा अहंकार डूब जाय) ।'

'मैं अपनेको गौरव देने जाकर केवल अपना अपमान ही करता हूँ। प्रतिपल केवल अपनेको ही घेरे हुए घूमता रहता हूँ। मेरे सारे अहंकारको आँखोंके जलमें डुबा दो।'

'मैं अपने कामके लिये अब अपना प्रचार न करूँ। मेरे जीवनमें हे प्रभो ! तुम अपनी इच्छा पूर्ण करो।'

'मैं चाहता हूँ तुम्हारी चरम शान्तिको, मैं चाहता हूँ प्राणोंमें तुम्हारी परम कान्तिको; प्रभो ! मेरी आड़ देकर तुम हृदय-कमलपर खड़े हो जाओ। मेरे सारे अहंकारको आँखोंके जलमें डुबा दो।'

इसलिये भगवत्प्राप्तिकी साधनामें लगे हुए साधकके हृदयमें अपनी साधनाका भी अभिमान नहीं आना चाहिये। याद रखना चाहिये, भगवान् वहीं आते हैं, जहाँ दूसरा नहीं होता। वे खाली स्थान चाहते हैं। यदि 'हम' बीचमें खड़ा रहेगा तो उनके लिये स्थान खाली कहाँ रहेगा ?

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेमगली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं॥

(१८)

महान् गुण भक्तिसे ही टिकते हैं

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला। बात यह है कि जब पहले-पहल मनुष्य देश और जातिकी सेवाके लिये और दीन-

दरिद्र, दुःखपीड़ित प्राणियोंकी सहायताके लिये कुछ काम प्रारम्भ करता है, उस समय उसके भाव निःसन्देह बहुत अच्छे होते हैं, वह सचमुच सेवा और सहायता ही करना चाहता है। पर जब क्रमशः उसका नाम फैल जाता है, उसे सम्मान मिलता है और बड़े-बडे धनी-मानी लोग जब उस दरिद्र नेताको अपना सरदार मानकर उसकी पूजा-प्रतिष्ठा करने लगते हैं, तब उसके अंदर सोयी हुई विषय-वासना जाग उठती है और वह बेचारा उस वासनासे प्रेरित होकर सुविधा पानेसे विषय-सेवनके गहरे गर्तमें पड़कर अपनी और देशकी दुर्दशा कर डालता है। आपने जो कुछ लिखा है, उसमें यही बात है। इसीलिये अनुभवी संतोंने कहा है कि दैवीसम्पत्तिके महान् गुण उसीमें ठहरते हैं, जो भगवान्के आश्रित होता है। जबतक भगवान्की भक्तिसे हृदयमें अकिञ्चनता—अहङ्कारशून्यता नहीं आ जाती, तबतक सद्गुण आ नहीं सकते और किसी कारणविशेषसे कुछ आ जाते हैं तो वे स्थिर नहीं रह सकते। श्रीमद्भागवतमे प्रह्लादजीने कहा है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
(५।१८।१२)

'श्रीभगवान्में जिसकी अकिञ्चना (निष्काम) भक्ति होती है (जो अपने हृदयमें ऐसा अनुभव करता है कि धन, जन, मान, वैभव तथा मैं और मेरा कुछ भी नहीं है और इस प्रकारके अनुभवसे शून्यहृदयकी पूर्णताका अभिलाषी होकर) जो श्रीभगवच्चरणा-

रविन्दकी प्राप्तिके लिये ललचा उठता है, उस पुरुषके हृदयमें समस्त देवता सारे सद्गुणोको लेकर नित्य विराजित रहते हैं अर्थात् ऐसे निष्किञ्चन भक्तका जीवन समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न होकर वस्तुत. बहुत ही ऊँचे स्तरपर उठ जाता है; पर जिसमें भगवान्की भक्ति नहीं, उसमें महान् गुण कहाँसे आ सकते हैं ? वह तो मनमानी कामनाओंके रथपर सवार होकर निरन्तर बाहरी विषयोंकी ओर ही दौड़ता रहता है ।'

सद्गुणोंके निवासके लिये कोई सुदृढ़ आधार चाहिये । वह आधार है भगवान्की भक्ति । आजका मनुष्य भगवान्को छोड़कर सद्गुणोंका सेवन करना चाहता है, इसीसे वह पद-पदपर वञ्चित होता है और अन्तमें विषयपङ्कमें फँसकर अपनेको नष्ट कर डालता है । आज देशभरमें यही हो रहा है । पारस्परिक कलह, पद-लोलुपता, द्वेष तथा सैकड़ों दलबंदियोंका यही प्रधान कारण है । इस दुर्दशा-से हमारा छुटकारा तबतक नहीं हो सकता, जबतक हमारे कार्य-कर्ताओंके हृदयमें अकिञ्चना भक्तिका अङ्कुर नहीं पैदा होता और जबतक वह नियमितरूपसे श्रवण-कीर्तनादिरूप अमृत-जलसे सतत सींचा नहीं जाता । सेवा करनेवालोंको पहले अपनेमें अकिञ्चनता पैदा करनी होगी, तभी वे सेवा कर सकेंगे । नहीं तो, सेवा करनेके बदले वे सेवा कराने लगेंगे और किसीके न करनेपर उसके शत्रु बनकर उसके और प्रतिक्रियारूपमें अपने भी विनाश-साधनमें लग जायँगे ।

आप यदि सचमुच देशकी सेवा करना चाहते हैं और साथ ही दुर्गुणोंसे बचना चाहते हैं तो सबसे पहले अपनेको 'सेवक' बनाइये । प्रत्येक कार्य भगवत्सेवाके लिये करना है और करना है

भगवान्‌की दी हुई वस्तुओंसे और उन्हींके दिये हुए मन-बुद्धि तथा शरीरके द्वारा। अपना निजका कुछ भी नहीं है और न किसी वस्तुके बदलेमें कुछ पानेका अधिकार है। उनकी चीज, उनके इच्छानुसार उनकी सेवामें समर्पित करनी है। इस सेवामें वे कृपा करके हमे निमित्त बनाते हैं—यही हमारा परम सौभाग्य है। प्रभुसे सदा यही प्रार्थना करनी चाहिये कि कभी मनमें अहङ्कार पैदा न हो,—विषय-वासनावश कभी सेवा करानेकी या सेवाका कुछ भी बदला पानेकी जरा भी इच्छा मनमें जाग्रत् न हो। साथ ही भगवान्‌के नाम-गुणोका श्रवण कीर्तन भी करते रहना चाहिये। इससे भक्तिका पौधा लहलहाता रहता है और शीघ्र ही बढ़कर प्रेमरूप परम फल देता है। प्रेमकी प्राप्ति होती है, तभी वास्तविक प्रभु-सेवा बन पड़ती है। सेवाकी योग्यता प्रेमसे ही आती है।

(१९)

भगवत्कृपासे भगवत्प्रेम प्राप्त होता है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका विनयपूर्ण कृपापत्र मिला। मेरे प्रति इतनी अनुनय-विनयकी भला क्या आवश्यकता थी? इससे तो मुझे बहुत ही संकोच होता है। आपको भगवत्प्रेमकी प्यास है—यह तो बड़े आनन्दकी बात है। परंतु संसारका कोई भी प्राणी किसीको वह अमूल्य निधि दे सकनेका दावा कैसे कर सकता है। मुझमें ऐसा सामर्थ्य कहाँ है जो मैं किसी एक भी प्राणीको अपने प्रयत्नसे प्रभुप्रेमका एक भी बिन्दु दे सकूँ। यह परमामृत तो एकमात्र प्रभुके कृपाकटाक्षका ही प्रसाद है। जिस परम सौभाग्यशाली जीवपर उनकी कृपा प्रकट

होती है, उसीको यह अमृत प्राप्त होता है। उनकी कृपा उन्हींके अधीन है। उसे किसी साधनद्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। बल्कि जीवको जबतक अपने साधनोंका भरोसा रहता है, तबतक तो वह अधिकतर दुखी ही रहता है। उसे पानेका यदि कोई उपाय है तो यही है कि जीव निरुपाय हो जाय। सारे साधनोंका आश्रय छोड़कर एकमात्र कृपाकी ही उपासना करे, कृपाकी ही बाट जोहा करे। साधनोंका आश्रय छोड़नेसे यह मतलब नहीं है कि सत्पथको छोड़कर कुपथमें चलने लगे। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि अपने सत्कर्मोंके मूल्यमें प्रभुकृपाको पानेकी आशा न रक्खे। सत्कर्म साधनके रूपमें नहीं, स्वभावसे हों। साधन तो एकमात्र प्रभुकी इच्छाका अनुवर्तन हो। वे जैसे रक्खें उसीमें सन्तुष्ट रहे और केवल प्रभुप्रेमकी प्यास बढ़ाता रहे। इस प्यासकी पीड़ा जितनी बढ़ेगी, उतनी ही प्रभुकृपा सुलभ होती जायगी। अतः प्रभुप्रेम ही प्रभुप्राप्तिका एकमात्र उपाय है। प्रभु स्वयं कृपा करके ही किसी जीवको अपनाते हैं। वह कृपा प्रभुकी इच्छासे कभी-कभी किसी भगवदीयके रूपमें आती है। किन्तु भक्त केवल यन्त्रवत् उसके प्रकट होनेका निमित्तमात्र होता है। वास्तवमें तो उसके द्वारा भगवान् ही अपने शरणापन्नपर द्रवित होते हैं। अतः आप श्रीभगवान्‌का ही आश्रय लीजिये। उनके आगे दीन होकर रोइये, उन्हींसे प्रार्थना कीजिये और उन्हींको अपना दुःख सुनाइये। वे करुणामय प्रभु सब प्रकार आपका मङ्गल करनेमें समर्थ हैं। शेष भगवत्कृपा।

श्रीगोपाङ्गनाओंकी महत्ता

सप्रेम हरिस्मरण । आप भगवान्‌के प्रेमी हैं और व्रजदेवियोंके प्रति श्रद्धा रखनेवाले हैं, अतः व्रजाङ्गनाओंके चरित्रकी ऐसी कोई भी आलोचना, जो उन्हें तुच्छ सिद्ध करती हो, या उनके महत्त्वको घटाती हो, आपके हृदयको व्यथा ही देती होगी। आपने नारदभक्तिसूत्रका प्रमाण देकर जो यह बात सिद्ध की है कि गोपीजनोंको भगवान्‌के स्वरूपका पूर्णतः ज्ञान था, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। जो गोपियाँ भगवान्‌की अन्तरङ्ग शक्तियाँ थीं, जिनके मन-प्राण सदा भगवान्‌में ही लगे रहते थे, वे उनके स्वरूप और महत्त्वको न जानती हों—यह कैसे सम्भव है?

श्रीमद्भागवतके २९ वें अध्यायमें श्रीशुकदेवजीने जो यह कहा कि—'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः । जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥' फिर राजा परीक्षित्‌ने जो शङ्का की कि—'कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।' इत्यादि, तथा इस शङ्काको स्वीकार करके जो शुकदेवजीने उत्तर दिया—'उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः । द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥' यह सब ठीक है। इस प्रसङ्गसे गोपीजनोंकी महत्तापर ही प्रकाश पड़ता है। श्रीधर स्वामीने जो अपनी व्याख्यामें लिखा है कि 'जीवेष्वावृत ब्रह्म' कृष्णस्य तु हृषीकेशत्वादनावृतमतो न तत्र बुद्ध्यपेक्षा ।' अर्थात् जीवोंका चेतनभाव या चित्स्वरूपता आवृत है, अतः उसको समझनेके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है, परतु श्रीकृष्ण तो सबकी

इन्द्रियोंके नियामक एवं अन्तर्यामी हैं, इसलिये उनका चिन्मय स्वरूप आवृत नहीं है। अत. उनके इस स्वरूपकी अनुभूतिके लिये या उनके चिन्तनसे होनेवाली मुक्तिकी सिद्धिके लिये ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है। इसके द्वारा श्रीकृष्णके अनावृत सच्चिदानन्दघन स्वरूपका प्रतिपादनमात्र किया गया है। इसका भाव यह नहीं समझना चाहिये कि गोपियोंकी उनके प्रति परमात्मबुद्धि नहीं थी, या वे उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानती थीं। 'अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' इत्यादि पदोंसे भी इस धारणाकी पुष्टि हो जाती है।

यह सब होनेपर भी भगवान्‌की स्वरूपभूत मायाशक्ति या लीलाशक्ति उनके ज्ञानको तिरोहित तथा प्रेमभावको ही प्रायः जाग्रत् किये रहती है। श्रीकृष्ण परमात्मा या ब्रह्म हैं, इस भावका स्मरण उन्हें नहीं रहता; वे यही अनुभव करती हैं—श्रीकृष्ण हमारे प्रियतम हैं, प्राणवल्लभ हैं। आपको 'जारबुद्ध्यापि' यह कहना खटक सकता है। ब्रह्माजी भी जिनकी चरणरजकी वन्दना करते हैं तथा उद्धव-जैसे ज्ञानी भी जिनकी चरणरेणु पानेके लिये तरसते हैं, उन व्रजललनाओंकी भी सच्चरित्रताका समर्थन करना पड़े, उनके चरित्रपर भी सन्देहका अवसर आवे—यह आपहीको नहीं, सभी भगवत्प्रेमियोंको व्यथा देता है। गोपियोंके प्रेमके साथ शिशुपालके भगवत्स्मरणकी चर्चा आपको पसंद नहीं आयी। परतु ऐसा होनेका कोई कारण नहीं दिखायी देता। शिशुपाल तो भगवान्‌का परम अन्तरङ्ग पार्षद था, वह शापग्रस्त होनेके कारण भगवान्‌से पृथक् पड़ा हुआ था, उसने द्वेषभावसे भगवान्‌का निरन्तर स्मरण किया था; अतः उसका महत्त्व कम नहीं मानना चाहिये।

आपके यहाँके विद्वान् जो यह कहते हैं कि 'गोपियोंके मनमें काम ही था, प्रेम नहीं,' उनका यह कथन श्रीगोपीजनोंके महत्त्वको न जाननेके कारण ही है। उनके इस कथनका विरोध तो श्रीमद्भागवतमें ही हो जाता है । शास्त्रमें कहा है—'प्रेमैव गोपरामाणा काम इत्यगमत् प्रथाम्'—गोपियोंका प्रेम ही लोकमे कामके नामसे प्रसिद्ध हुआ । गोपियाँ प्रेमकी प्रतिमूर्ति थीं । उनके मनमें लौकिक कामकी गन्ध भी नहीं थी । उनके लिये जो 'जारबुद्ध्यापि' इस पदका प्रयोग किया गया है, यह भी उनकी महत्ताका ही परिचायक है । जब उनमें लौकिक काम नहीं, अङ्ग-सङ्गकी वासना नहीं, तब वहाँ लौकिक जारभाव या आपपत्यकी कल्पना कैमे की जा सकता है ।

गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्वकीया थीं या परकीया, यह प्रश्न श्रीकृष्ण और गोपियोंके स्वरूपको भुलाकर ही किया जाता है । भूत, भविष्यत् आर वर्तमान—सबके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं । गोपी-गापियोंके पति, उनके सगे-सम्बन्धी तथा जगत्के सभी प्राणियोंके हृदयमें आत्मा एव परमात्मारूपसे जो प्रभु स्थित हैं, वे ही श्रीकृष्ण हैं । श्रीकृष्ण किसीके पराये नहीं हैं । वे सबके अपने हैं आर सब उनके हैं । श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघन, सर्वान्तर्यामी, प्रेमरसस्वरूप एवं लीलारसमय परमात्मा हैं तथा गापियाँ उनकी आह्लादिनी शक्तिरूपा आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविता स्वरूपभूता श्रीराधारानीकी ही अनेकानेक मूर्तियाँ हैं । अत श्रीकृष्ण उनके लिये जार या परकीय नहीं तथा वे भी श्रीकृष्णकी परकीया नहीं । वास्तवमें तो उनमें स्वकीया-परकीयाका कोई भेद था ही नहीं। वे सब श्रीकृष्णकी अभिन्न थीं और श्रीकृष्ण उनके अभिन्न थे । भगवान् स्वय ही आस्वाद्य, आस्वादक,

लीलाधाम तथा विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमे प्रकट होकर अपने स्वरूपभूत अनन्तानन्तरसका समास्वादन करते तथा कराते रहते हैं ।

ऊपर बताया जा चुका है कि गोपियाँ या श्रीकृष्णके सम्बन्धमे जारभाव या परकीयत्वकी कल्पना असङ्गत है । ऐसी दशामें 'जार-बुद्धि' अथवा 'औपपत्य' आदि पदोका क्या स्वारस्य है, यह विचारणीय प्रश्न है । इसके विषयमे निवेदन यह है कि गोपियाँ परकीया नहीं थीं, पर उनमें परकीयाभाव था । इसी दृष्टिसे श्रीकृष्णके प्रति उनके मनमे जारभाव था, वास्तवमें श्रीकृष्ण उनके सर्वथा अपने थे । परकीया होने और परकीयाभाव होनेमें आकाश-पातालका अन्तर है । जार और जारभावमें भी यही अन्तर है । परकीयाभावमे चार बातें बड़े महत्त्वकी होती हैं—(१) अपने प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, (२) मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा, (३) दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव और (४) प्रियतमसे किसी वस्तुकी कामना नहीं । गोपियाँ श्रीकृष्णकी परकीया थीं, या श्रीकृष्णको जारभावसे भजती थीं—इस कथनका इतना ही तात्पर्य है कि वे श्रीकृष्णका निरन्तर चिन्तन करती, उनसे मिलनेकी उनके मनमें निरन्तर उत्कण्ठा जाग्रत् रहती, वे श्रीकृष्णमे दोष कभी नहीं देखतीं और श्रीकृष्णसे कुछ भी न चाहकर निरन्तर अपनेको पूर्ण समर्पित समझती थीं । वे उनके प्रत्येक व्यवहारको प्रेम-की ही दृष्टिसे देखा करती थीं । इसी भावको व्यक्त करनेके लिये 'जारबुद्धि' आदि पदोंका प्रयोग हुआ है । हमें गोपियोंके इस अहैतुक प्रेमका, जो केवल श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये था, निरन्तर स्मरण रखना चाहिये ।

गोपीजनोंकी महिमा अनिर्वचनीय है; आपके आग्रहसे उनकी कुछ चर्चा हुई—जिससे मन, वाणी और लेखनी पवित्र हुई। इसके लिये मै आपका कृतज्ञ हूँ। शेष भगवत्कृपा।

(२१)

गोपीभावकी प्राप्ति

सप्रेम हरिस्मरण! पत्र मिला। आप गोपीप्रेम प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखते हैं—यह तो बडे सौभाग्यकी बात है। उसके लिये आपने जो तीन प्रश्न पूछे हैं, उनके विषयमें मैं अपने विचार नीचे लिखता हूँ—

१ गोपीप्रेमकी प्राप्ति सभीको हो सकती है। बिना इस भावकी प्राप्ति हुए तो प्रियतमकी अन्तरङ्ग लीलाओंमें प्रवेश ही नहीं हो सकता। परन्तु यह सर्वोच्च सौभाग्य किस जीवको कब प्राप्त होगा—इसका निर्णय कोई नहीं कर सकता। यह तो उन प्राणनाथकी अहैतुकी कृपापर ही अवलम्बित है। वे जब कृपा करके जिस जीव-को वरण करते हैं, तभी उसे यह सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होता है। जीव तो अधिक-से-अधिक अपनेको उनके चरणोंमें समर्पित ही कर सकता है। समर्पण ही इसका साधन है। साधन इसलिये कि जीव अधिक-से-अधिक इतना ही कर सकता है। परन्तु वास्तवमें यह भाव तो साधन-साध्य नहीं है, केवल कृपासाध्य ही है।

२ गोपी-भावकी प्राप्ति सब कुछ त्यागनेपर तो होती ही है, परन्तु यह सर्वस्व-परित्याग किसी बाह्य क्रियापर अवलम्बित नहीं है।

यह घरमें रहते हुए भी हो सकता है और वनमें जानेपर भी नहीं होता। गोपियाँ कब वनमें गयी थीं। यह तो भावकी एक परमोत्कृष्ट अवस्था है, जो प्रेमका परिपाक होनेपर ही होती है। प्रेमीके लिये तो सब कुछ प्राणनाथका ही है, उसका है क्या, जिसे वह छोड़े। छोड़नेके साथ तो सूक्ष्मरूपसे ममताका पुट लगा हुआ है। जिसकी किसीमें ममता नहीं है, वह किसे छोडेगा। अतः छोड़नेका स्वाँग न करके प्रेमकी अभिवृद्धि ही करनी चाहिये। जो प्रियतमके चरणोंमें आत्मोत्सर्ग कर देता है, उसका अपना कुछ रहता ही नहीं, सब कुछ प्यारेका ही हो जाता है।

३. गुरु, वेष और स्थान भावकी प्राप्तिके साधन अवश्य हैं, परन्तु अधिकतर इनके द्वारा लोगोंको एक प्रकारकी संकीर्ण साम्प्रदायिकता ही हाथ लगती है। जिसे स्वयं गोपी-भावकी प्राप्ति नहीं हुई, वह दूसरोंको कैसे उसकी प्राप्ति करा सकता है और गोपी-भाव-प्राप्त गुरु भी कहाँ मिलेगा। वेष तो, प्रियतमकी रुचि जाने बिना कैसे निश्चय किया जाय कि वे किस रूपमें आपको देखना चाहते हैं। प्रियतमका स्थान ही इस लोकसे परे है, इस लोकका वृन्दावन तो केवल उसका प्रतीक है। वह नित्य एवं चिन्मय वृन्दावन तो सर्वत्र है, उसकी उपलब्धि केवल भावमय नेत्रोंसे ही हो सकती है। भावुक उस प्रियतमके धामसे एक क्षण भी बाहर नहीं रह सकता।

ये तो हुए आपके प्रश्नोंके उत्तर। अब आपने जो अपनी पारिवारिक परिस्थिति लिखी है, उसे देखते हुए मेरा यह विचार है कि आप अपने माता-पिता एवं अन्य गुरुजनोंकी सेवा करते हुए ही ईश्वरका प्रेम प्राप्त करनेकी चेष्टा करें। यदि हृदयमें स्त्रीके सम्पर्कसे

स्वाभाविक घृणा नहीं है तो विवाह भी अवश्य करें । भजन-पूजनमें समय लगाना बहुत अच्छा है; परन्तु क्रियाकी अपेक्षा भावका मूल्य अधिक है । यदि आप प्रभुकी प्रदान की हुई प्रत्येक परिस्थितिको उन्हींका विधान समझें और लौकिक कहे जानेवाले कर्तव्योंको भी प्रभुका कार्य समझकर ही करें तो उनका मूल्य भजनसे कम नहीं होगा । अतः आप न्यायपूर्वक प्राप्त प्रत्येक कर्तव्यको प्रभुका आदेश जानकर पूरा करें ।

(२२)
प्रेममें विषय-वैराग्यकी अनिवार्यता

आपका कृपापत्र मिल गया था । मेरी समझसे ज्ञान और प्रेम दोनोंमें ही वैराग्य स्वयमेव होता है । ज्ञानमें जगत्‌का जगत्-रूपसे अभाव हो जाता है, फिर राग किसमें हो ? और प्रेममें प्रियतमके अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं—याद ही नहीं आता, तब दूसरेमें राग कैसे रहे ?

स्त्री हो या पुरुष—यदि किसीका किसीमें सच्चा प्रेम है, उसमें काम-गन्धका जरा भी दोष नहीं है, यदि प्रियतमसे आत्मसुखकी कामना न होकर, अपने महान् दुःखोंकी जरा भी परवा न करके प्रियतमके सुखके लिये व्याकुलतापूर्ण प्रयास है तो वही पवित्र जीवन है । पवित्र भावना, पवित्र विचार, पवित्र वाणी और पवित्र शरीर वही हैं, जिनमें आत्मसुखकी इच्छा सर्वथा प्रियतमके सुखकी इच्छामे परिणत हो जाती है और भावना, विचार, वाणी और शरीर सभी स्वाभाविक ही आत्मसुखका बलिदान करके सतत प्रियतमको सुखी

करनेके अखण्ड प्रयत्नमें लग जाते हैं । ऐसे पवित्र भाव, विचार, वाक् और शरीरवाला प्रेमी ही यथार्थ प्रेमी है । इस प्रेममें जगत्के भोगोंसे स्वाभाविक ही वैराग्य है; क्योंकि यहाँ काम-गन्धका लेश भी नहीं है । प्रेम ऐसा पवित्र पदार्थ है कि यह जिसे प्राप्त होता है, उसके लिये यह समस्त विश्व ही प्रियतम बन जाता है । विश्व नहीं रहता । प्रियतम ही रह जाता है । वही कह सकता है 'जित देखौं तित स्याममई है ।' उसके नेत्रोंमें विश्वके चित्र नहीं आते । उसके चित्तपटपर जगत्का चित्र अङ्कित नहीं होता । यदि कभी किसीके प्रेरणा करनेपर उसे विश्वकी स्मृति होती है तो दूसरे ही क्षण वह देखता है कि अपने प्रियतममें ही विश्वका भास हो रहा है । भगवान्‌ने जो कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

(गीता ६ । ३०)

'जो सर्वत्र मुझको देखता है और सबको मुझमें देखता है ।' इसका यही गम्भीर रहस्य है ।

प्रेमियोंका यह प्रेम—यह प्रियतमानुराग जगत्के समस्त विषयानुरागको खा-पीकर पचा जाता है, फिर उसका बीज भी नहीं रहने पाता उनके हृदयमें । लोग उन्हें पागल बताते हैं । ये परम रागमय परम विरागी पुरुष बड़े ही विलक्षण होते हैं । श्रीचैतन्य महाप्रभुकी जीवन-लीलाके अन्तिम वर्ष इसी विलक्षण विरागमय रागका प्रत्यक्ष करानेवाले थे । वे धन्य हैं, जो इस प्रकारके प्रेमकी कल्पना भी कर पाते हैं ।

प्रियतम प्रभुका प्रेम

सादर जय श्रीकृष्ण ! आपका कृपापत्र मिला । जव उन 'प्रियतमने आपके मनसे संसारको निकाल दिया' तव फिर उसमें रहा ही क्या । वह सूना स्थान तो फिर उन्हींका है । वे दूसरेके साथ रहना पसद नहीं करते, इसीसे जो उनको चाहता है, उसको अपने मनसे उनके अतिरिक्त सभीको निकाल देना पडता है । आपके कथनानुसार तो उन्होंने ही आपके मनको ससारसे रहित कर दिया है । फिर घवरानेकी कोई बात नहीं है । प्रेम मिलेगा ही । असलमे प्रेम न होता तो ससार निकलता ही कैसे । परन्तु प्रेमका स्वभाव ही ऐसा होता है कि उसमें होनेपर भी 'न होनेका' ही अनुभव हुआ करता है। नित्य सयोगमे वियोगकी अनुभूति प्रेम ही कराता है और वह 'वियोग' समस्त योगोंका सिरमौर होता है । यह बडे सौभाग्यकी वात है कि आपके मनमें उनका प्रेम पानेके लिये इतनी तड़प है और आप इसके लिये बहुत दुखी हैं । इस 'तडप' और इस 'दु ख'से बढ़कर उनके प्रेमकी प्राप्तिका और क्या उपाय हो सकता है ? आप इस वियोगमय योगका आश्रय लिये रहिये । यही तो प्रेमास्पदकी प्रेमोपासना है—नित्य जलते रहना और उस जलनमें ही अनन्त शान्तिका अनुभव करना ।

प्रेमास्पद और प्रेमीके वीचमे तीसरेका क्या काम ? मुझसे कोई प्रार्थना न करके आप सीधे उन्हींसे प्रार्थना कीजिये । आपके पत्रके अनुसार तो आपमें-उनमे 'हजारों लड़ाइयाँ हो चुकी हैं ।' ऐसी लडाइयाँ वस्तुत प्रार्थनाके स्तरसे वहुत ऊँचेपर हुआ करती हैं । उनपर

जो गुस्सा आता है, यह भी तो प्रेमका ही एक अङ्ग है। फिर यह कैसे माना जाता है कि प्रेम नहीं है। 'वे प्रेम देकर चाहे जितना जुल्म करें' जब यह आपकी अभिलाषा है, तब आप उनके जुल्ममें प्रेमका दर्शन क्यों न करें? यदि जुल्ममें ही उन्हें मजा आता है, यदि तरसानेमें ही उन प्रियतमको सुख मिलता है तो बड़ी खुशीकी बात है। वे पराये होते तो भला जुल्म करते ही कैसे? प्रेम न होता तो तरसाते ही कैसे? वहाँ तो यह प्रश्न ही नहीं होता। मेरी राय माँगी सो मेरी राय तो यही है कि बस, उन्हींपर निर्भर कीजिये, उन्हींसे प्रार्थना कीजिये, उन्हींको कोसिये और उन्हींसे लड़िये। कभी हिम्मत न हारिये—कभी निराश न होइये। वे छिप-छिपकर यों ही 'झाँका' करते हैं, स्वयं पकड़में न आकर पहले यों ही 'फँसाया' करते हैं, वे 'लिया' ही करते हैं 'देते नहीं।' परन्तु यह सच मानिये उनका यह छिप-छिपकर झाँकना आपके हाथोंमें पड़नेके लिये ही होता है, वे फँसनेके लिये फँसाया करते हैं और अपना सर्वस्व देनेके लिये ही 'लिया' भी करते हैं। जय श्रीकृष्ण!

(२४)

सिद्ध सखीदेह

महोदय! आपका कृपापत्र मिला। आपने भगवान् श्यामसुन्दर-की नित्यलीलामे सेवाधिकार पानेकी बातपर शङ्का की, सो वस्तुतः ऐसे महात्मा भक्त इस समय प्रायः बहुत ही कम हैं। तथापि ऐसा होना असम्भव नहीं है। तीन प्रकारके प्रेमी भक्त होते हैं—नित्यसिद्ध, कृपासिद्ध और साधनसिद्ध। नित्यसिद्ध वे हैं, जो श्रीकृष्णके नित्य परिकर हैं और श्रीकृष्ण स्वयं लीलाके लिये जहाँ विराजते हैं, वहीं वे

उनके साथ रहते हैं। कृपासिद्ध वे हैं, जो श्रीभगवान्की अहैतुकी कृपासे प्रेमियोंका सङ्ग प्राप्त करके अन्तमें उन्हें पा लेते हैं, और साधनसिद्ध वे हैं, जो भगवान्की कृपा प्राप्त करनेके लिये भगवान्की रुचिके अनुसार भगवत्प्रीत्यर्थ प्रेम-साधना करते हैं। ऐसे साधकोंमें जो प्रेमके उच्च स्तरपर होते हैं, किसी सखी या मञ्जरीको गुरुरूपमें वरण करके उनके अनुगत रहते हैं, ऐसे पुरुष समय-समयपर प्राकृत देहसे निकलकर सिद्ध देहके द्वारा लीला-राज्यमें पहुँचते हैं और वहाँ श्रीराधा-गोविन्दकी सेवा करके कृतार्थ होते हैं। ऐसे भक्त आज भी हो सकते हैं। कहा जाता है कि महात्मा श्रीनिवास आचार्य इस स्थितिपर पहुँचे हुए भक्त थे। वे सिद्ध सखीदेहके द्वारा श्रीराधागोविन्दकी नित्यलीला दर्शनके लिये अपनी सखी-गुरुके पीछे-पीछे श्रीव्रजधाममें जाया करते। एक बार वे ऐसे ही गये हुए थे। स्थूलदेह समाधिकी भाँति निर्जीव पड़ा था। तीन दिन बीत गये। आचार्यपत्नीने पहले तो इसे समाधि समझा, क्योंकि ऐसी समाधि उनको प्रायः हुआ करती थी। परन्तु जब तीन दिन बीत गये, शरीर बिल्कुल प्राणहीन प्रतीत हुआ, तब उन्होंने डरकर शिष्य भक्त रामचन्द्रको बुलाया। रामचन्द्र भी उच्च स्तरपर आरूढ थे, उन्होंने पता लगाया और गुरुपत्नीको धीरज देकर गुरुकी खोजके लिये सिद्धदेहमें गमन किया। उनका भी स्थूलदेह वहाँ पड़ा रहा। सिद्ध-देहमें जाकर रामचन्द्रने देखा—श्रीयमुनाजीमें क्रीडा करते-करते श्रीराधिकाजीका एक कर्ण-कुण्डल कहीं जलमें पड़ गया है। श्रीकृष्ण सखियोंके साथ उसे खोज रहे हैं, परन्तु मिल नहीं रहा है। रामचन्द्रने देखा सिद्ध-देहधारी गुरुदेव श्रीनिवासजी भी सखियोंके

यूथमें शामिल हैं । तब रामचन्द्र भी गुरुकी सेवामें लगे । खोजते-खोजते कुछ देरके बाद रामचन्द्रको श्रीजीका कुण्डल एक कमलपत्रके नीचे पङ्कमें पड़ा मिला । उन्होंने लाकर गुरुदेवको दिया । उन्होंने अपनी गुरुरूपा सखीको दिया, सखीने यूथेश्वरीको अर्पण किया और यूथेश्वरीने जाकर श्रीजीकी आज्ञासे उनके कानमें पहना दिया । सबको बड़ा आनन्द हुआ । श्रीजीने खोजनेवाली सखीका पता लगाकर परम प्रसन्नतासे उसे चर्वित ताम्बूल दिया । बस, इधर श्रीनिवासजी तथा रामचन्द्रकी समाधि टूटी, रामचन्द्रके हाथमें श्रीजी-का चबाया हुआ पान देखकर दोनोंको बडी प्रसन्नता हुई थी ।

---

(२५)

प्रेमास्पद और प्रेमी

महोदय ! सादर हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । प्रेम वह वस्तु है, जो प्रेमास्पदको प्रेमी और प्रेमीको प्रेमास्पदका पद प्रदान कर देता है । जिन भगवान्‌को प्रेमास्पद मानकर भक्त अपना सर्वस्व न्योछावर करके उनसे प्रेम करता है, प्रेमकी प्रगाढ़ता होते-होते यहाँतक होती है कि फिर स्वय भगवान् उस प्रेमीको अपना प्रेमास्पद मानकर उसकी चाह करने लगते हैं और ऐसे तन्मय हो जाते हैं कि सर्वत्र उन्हें उस प्रेमीकी ही मूर्ति दिखायी पड़ती है । सदा-सर्वदा श्रीमती राधाजी-का चिन्तन करते-करते एक बार श्रीकृष्ण इतने तन्मय हो गये कि उन्हें सर्वत्र श्रीराधाके ही दर्शन होने लगे ।

प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगातुरस्य ।

हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति ते कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥

'राधाविरहसे आतुर हुए मेरे लिये महलमे राधा, रास्ते-रास्तेमें राधा, पीछे राधा, सामने राधा, पलगपर राधा और दिशा-दिशामें राधा है । अरे चित्त ! तुम्हारे लिये और कोई भी अपरा प्रकृति नहीं है, सारे जगत्मे सर्वत्र ही तुम केवल राधा-राधा-राधा-राधा ही देख रहे हो, यह कैसा अद्वैतवाद है ।'

---

(२६)

प्रेम मुँहकी बात नहीं है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । किसीके व्याख्यान-को सुनकर ही उसे प्रेमी मान लेनेमें बड़ा धोखा हो सकता है । प्रेम वाणीका विषय ही नहीं है । जितना प्रेम यथार्थ और शुद्ध होता है, उतना ही उसमे त्याग अधिक होता है । वस्तुत त्याग ही प्रेमका आधार है । प्रेममे अपने शुद्ध स्वार्थको, अपने व्यक्तिगत लाभको और अपनेको सर्वथा भूल जाना पड़ता है । प्रेमका प्रादुर्भाव होनेपर ये अपने-आप ही भूले जाते है । प्रेममे प्रेमास्पदमे कुछ भी पानेकी आशा नहीं रहती । वहाँ तो बस, देना-ही-देना होता है—देह-प्राण-मन ले लो, धन-ऐश्वर्य-समृद्धि ले लो, मान-यश-प्रतिष्ठा ले लो, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ले लो, जो चाहो सो ले लो—और इस देनेमें ही परम सुख, परम सन्तोष मिलता है प्रेमीको । आत्मविसर्जन ही प्रेमका मूल-मन्त्र है । प्रेमास्पदका हित और सुख ही प्रेमीका परम सुख है । इस प्रकारकी स्थिति बातोंसे तो हो नहीं सकती । इसके लिये त्याग

चाहिये। आपने व्याख्यान सुन लिया, प्रेमकी महिमा सुन ली, कभी एक-दो बूँद आँसू देख लिये और किसीको प्रेमी मान लिया। यह ठीक नहीं है। प्रेमका पता तो तब लगेगा, जब उसकी प्रत्येक क्रियामें आपको त्यागकी अनुभूति होगी। बहुत-से स्वार्थी लोग प्रेमकी व्याख्या इसीलिये किया करते हैं कि लोग उनके प्रेमी बनें और वे उनके प्रेमास्पद प्रियतम बनें। अर्थात् लोग अपना सर्वस्व उन्हें अर्पण कर दें। यह प्रेमके नामपर लोगोंको ठगना है। यहाँ नीच काम ही प्रेमकी पोशाक पहनकर आता है। असलमें प्रेमका व्याख्यान नहीं होता, प्रेमका तो आचरण होता है और वह किया नहीं जाता, होता है—बरबस होता है, क्योंकि प्रेमीसे वैसा किये बिना रहा नहीं जाता। प्रेमास्पद उसे भले ही न चाहे, बदलेमें प्रेम न करे, उसके प्रेमका तिरस्कार करे, उसे ठुकरा दे, पर प्रेमीके पास इन सब बातोंकी ओर देखनेके लिये चित्त ही नहीं है। उसका चित्त तो अपने प्रेमास्पदमें सहज ही लगा है।

'मैं किसीका प्रेमास्पद बनूँ—प्रेमीका उपास्य बनूँ—मेरे प्रेमी लोग मुझे अपना प्रेमदान देकर आप्यायित करें।' ऐसी यदि मनमें चाह है तो समझना चाहिये कि हमारा मन नीच स्वार्थके कलङ्करूप कामके वश हो रहा है और भोले लोगोंको प्रतारित करना चाहता है। ऐसी स्थितिमें सावधान हो जाना चाहिये। प्रेमका कहीं यदि उपदेश होता है तो वह अपने लिये ही होता है कि 'मैं ऐसा प्रेमी बनूँ, मैं ऐसा त्यागपूर्ण आचरण करूँ, जिससे मेरा पवित्र प्रेम खिल उठे।' ×××××शेष भगवत्कृपा।

श्रीकृष्ण-भक्तिकी प्राप्ति और काम-क्रोधके नाशका उपाय

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । पत्र मिला । धन्यवाद । आप श्रीभगवान्‌को ही गुरु मानकर पूर्ण श्रद्धा और विश्वासके साथ भजन करें । इसीसे आपका परम कल्याण होगा । उद्धार करनेकी शक्ति भगवान्‌में ही है । भगवान् किसीके अधीन नहीं हैं । वे स्वय ही कृपा करके दर्शन देते और प्राप्त होते हैं । आप यह भरोसा छोड़ दें कि कोई दूसरा व्यक्ति आपको भगवान्‌की प्राप्ति करा देगा । आपको स्वयं ही इसके लिये प्रयत्न करना होगा । साधन-भजनके द्वारा अपनेको प्रभु-प्राप्तिका अधिकारी बना लेना होगा ।

श्रीकृष्णकी अनन्य भक्तिका उपाय यही है कि आप श्रीकृष्णको ही अपना सर्वस्व मानें । माता, पिता, भाई, बन्धु, सखा, स्वामी तथा प्रियतम आदि जितने भी नेह-नाते हैं, सब भगवान् श्रीकृष्णसे ही जुड़ जायँ । अपना यह जीवन श्रीकृष्णके चरणोंमे पूर्णतः समर्पित हो जाय । उठना-बैठना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि सब कुछ श्रीकृष्णके लिये हो, उनकी प्रसन्नताके लिये हो । श्रीकृष्णके हाथका यन्त्र बन जाइये । जिस प्रकार सूत्रधार पुतलीको जैसे नचाता है, वैसे ही वह नाचती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण जैसे रक्खें, वैसे ही रहिये, जो करावें, वही कीजिये । श्रीकृष्णका हृदय गीता है । गीताके अनुसार अपना जीवन बनाइये । गीताका सदा स्वाध्याय कीजिये ।

काम-क्रोधको नष्ट करनेका उपाय गीतामें बताया गया है । भगवान्‌ने कहा है—'काम और क्रोधकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है; ये मनुष्यके बहुत बड़े शत्रु हैं । इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये ही

इनके निवासस्थान हैं। ये ज्ञानको ढक लेते हैं और मनुष्यको मोहमें डाल देते हैं। परंतु मनुष्यका आत्मा मन-बुद्धि आदि सबसे परे है। अतः वह इन सबका शासक है।' वह इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको अपने वशमे कर ले तो इन काम-क्रोधादिके टिकनेके लिये कोई स्थान नहीं मिल सकता। जितने विषय-भोग हैं, सब-के-सब आपातरमणीय, नश्वर एव दुःखरूप हैं। यह समझ लेनेपर काम-विकार नष्ट हो जाता है। संसारके जितने प्राणी हैं, सबके आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उनकी सब प्राणियोंमें स्थिति है। यह जानकर जो सर्वत्र अपने प्रभुका दर्शन करता है, वह किसपर क्रोध करेगा? अज्ञानके ही कारण मनुष्य काम-क्रोधके वशमें आता है। ज्ञानके द्वारा वह काम-क्रोधको तत्काल नष्ट कर सकता है।

आपके अन्यान्य प्रश्नोंमेंसे कुछका उत्तर यह है—

१. भजन बद कर देनेसे काम-क्रोध, विषयचिन्तन आदि शान्त हो जाते हैं और भजन आरम्भ कर देनेपर ये पुनः उभड़ आते हैं, यह आपका अनुभव विचित्र एव विपरीत है। वास्तवमें मनुष्यके भीतर दोष और गुण सभी सस्काररूपसे रहते हैं, अनुकूल अवसर एवं वातावरण पाकर कभी दोष प्रकट होते हैं, कभी गुण। दोषोंका समूल उन्मूलन करना हो तो भजन कभी बद न करें। भजन अन्तःकरणको शुद्ध करके उसके दोषोंको शान्त कर देता है। इस समय जो काम-क्रोध आदि विकार शान्त हैं, वह पहले किये हुए भजनका ही प्रभाव है। जैसे कोई-कोई दवा रोगको उभाड़कर शान्त करती है, उसी प्रकार कभी-कभी भजनसे भीतरके दोष उभड़ते हैं, वह उभाड़ उनके नाशके लिये ही होता है।

२. गीता अध्याय १६ श्लोक १ से ३ तक देखिये। उसमें दैवी-सम्पत्तिका वर्णन है। 'गीता तत्त्वविवेचनी' मे विशद व्याख्या है।

३. देवतालोग भजनमे सहायकमात्र हो सकते हैं। भगवान्‌की भक्ति तो भगवान्‌की दयासे ही मिलती है।

४. परमात्माकी प्राप्ति भी परमात्माकी कृपासे ही होती है। देवताओंका भगवान्‌पर कोई वश नहीं।

५ भगवान्‌से कुछ भी न माँगना, यही सबसे उत्तम है। उनसे उनकी अनन्य भक्ति माँगना—यह निष्काम साधना ही है। सकाम भाव तो तब आता है, जब साधक भगवान्‌से कोई लौकिक वस्तु माँगता है।

६ भगवान् अन्तर्यामी हैं, वे सब कुछ देखते और जानते हैं—यह विश्वास रखनेवाला साधक भगवान्‌से किसी वस्तुके लिये प्रार्थना नहीं करता।

७ काम-क्रोध जबतक नष्ट नहीं किये जाते, तबतक वे अवसर देख-देखकर मनुष्यको अपने वशमे करते ही रहते हैं। अतः उपर्युक्त रीतिसे उनका विनाश कर डालनेकी ही चेष्टा होनी चाहिये।

८. आपके मनमें भक्तिकी इच्छा है, किंतु प्रबल नहीं, अन्यथा वह होती ही। जब विषयोंकी इच्छा प्रबल होती है, तब अन्य इच्छाओं-को दबा देती है। अतः भक्तिकी इच्छाको ही प्रबल बनाइये। इसका उपाय है—नाम-जप, सत्सङ्ग, भगवत्सेवाके भावसे जीव-मात्रकी प्रेमपूर्वक सेवा, भगवान्‌की दया एव करुणासे प्रेरित लीला-कथाओंका श्रवण-पठन आदि।

प्रियतमकी प्राप्ति कण्टकाकीर्ण मार्गसे ही होती है

सादर हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला । आपने अपनी जो परिस्थिति लिखी है, वह वास्तवमें बहुत विचारणीय है । श्रीभगवान् सब प्रकार सबका मङ्गल ही करते हैं । उनके मङ्गल विधानमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं करना चाहिये । यह दूसरी बात है कि कभी उस विधानमें बड़ी कटुता जान पड़ती है । भगवत्प्रेम बड़ी दुर्लभ वस्तु है । इसे पानेके लिये अपना सब कुछ बलिदान करना होता है । भक्तोंको बड़ी कठोर परीक्षाओंमें होकर निकलना पड़ता है । बिना तपाये स्वर्णमें कान्ति भी तो नहीं आती । प्रह्लाद, गोपीजन, मीराँ आदि सभी भक्तोंको क्या-क्या कष्ट नहीं सहने पड़े । अतः इन विघ्न-बाधाओंसे आप घबरायें नहीं । प्रियतमकी प्राप्ति बड़े कण्टकाकीर्ण मार्गसे होती है । योग और भोग एक स्थानमें नहीं रह सकते । अतः सच्चे प्रेमी इन आपत्तियोंकी कोई परवा नहीं किया करते । अपने प्रियतमसे दृष्टि हटानेकी उनमें शक्ति ही कहाँ होती है । वे तो सब प्रकार उसीके हो रहते हैं । अतः परिजन और गुरुजन कुछ भी करें या कहें, उन्हें उसकी परवा नहीं होती । वे खुशी-खुशी सब कुछ सह लेते हैं और उन आपत्ति-विपत्तियोंको वे अपने प्रियतमकी छेड़खानी समझकर किसी प्रकार उनपर खीझते भी नहीं हैं ।

यह तो हुई सिद्धान्तकी बात । सच्चे प्रेमियोंके लिये दो ही मार्ग हैं —वह या तो सब कुछ सहन करे या सबको त्याग दे । यदि ऐसा करनेकी अपनी शक्ति न हो तो युक्तिसे काम लेना चाहिये ।

यदि बाह्य पूजापाठसे घरवालोंकी अप्रसन्नता होती है तो न सही, आपके हृदयमें भगवान्‌के प्रति जो प्रेम है, उसे कौन छीन सकता है? आप हृदयसे ही उनका चिन्तन करें और जब अवकाश मिले, तब कातर कण्ठसे प्रार्थना करें। ऐसा करते हुए यदि अपने सेवाभावसे आप अपने पति और अन्य परिजनोंको अपने अनुकूल कर लेंगी तो धीरे-धीरे फिर वे आपके मार्गमें विघ्न नहीं डालेंगे। अतः अपने मनकी जैसी स्थिति हो उसके अनुसार आप प्रह्लाद, मीराँ आदिकी तरह सत्याग्रहका अथवा गुरुजनोंके साथ सहयोगका मार्ग अवलम्बन कर सकती हैं। यह अवश्य याद रखना चाहिये कि अपने सच्चे सम्बन्धी तो श्रीभगवान् ही हैं। अतः उन्हें किसी भी प्रकार भूलना ठीक नहीं है।

(२९)

गीतगोविन्दके अधिकारी

सादर हरिस्मरण। पत्र मिला। आपका लिखना ठीक है। सचमुच श्रीगीतगोविन्द बहुत ही उत्तम रसमय काव्य है और इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी विलास-लीलाओंका वर्णन है, परन्तु जिनका भगवान् श्रीकृष्णमें पूर्णतया भगवद्भाव न हो और जिनका मन विषयोंसे सर्वथा न हट गया हो, उन्हें गीतगोविन्द कभी नहीं पढ़ना चाहिये। खास करके जो लोग विषय-बुद्धिसे गीतगोविन्दको पढ़ते हैं, उनको तो हर तरहसे हानि ही होती है। गीतगोविन्दके प्रारम्भमे एक पद्य है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम्।

मधुरकोमलकान्तपदावलीं
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥

'यदि लीलामय स्वयं भगवान् श्रीहरिके स्मरणमें मन सरसभावसे अनुरक्त हो, यदि उनकी दिव्य विलास-कला जाननेका कौतूहल हो तभी जयदेवकी मधुर कोमलकान्त पदावलीको सुनो।'

इसमें स्वयं भगवान् श्यामसुन्दरने अपनी लीलारसमयी स्वरूपा-शक्ति गोपाङ्गनाओंके साथ, अपनी ही आह्लादिनी शक्ति राधामुख्या व्रजदेवियोंके साथ कालिन्दीकूलके कुसुमित कुञ्जकाननमें जो दिव्य भगवत्स्वरूपभूता केलिविलासरूपा लीलाएँ की हैं, उनका सरस वर्णन है। प्राकृत नायक-नायिकाका विलासवर्णन कदापि नहीं है। इस प्रकारकी जिनकी दृढ़मति हो और जो श्रीराधा-माधवके लीला-स्मरणमें लौकिक कामसंकल्पशून्य दिव्य रसास्वादका अनुभव करते हों, केवल वे ही इसके पढ़नेके अधिकारी हैं। अतएव मेरी समझसे आप-हम-जैसे लोगोंके लिये यह उपयोगी ग्रन्थ नहीं है। हमारे लिये तो सर्वोत्तम ग्रन्थ है—श्रीमद्भगवद्गीता। उसमें आपका अनुराग भी है अतएव आप मन लगाकर उसीका स्वाध्याय कीजिये।

'गीतगोविन्द' पर कौन-कौन-सी टीकाएँ उपलब्ध हैं, इसका मुझको ठीक पता नहीं है। आपने जिन टीकाओंके नाम लिखे, उन सबको मैंने नहीं देखा है। पता नहीं वे सब छपी हैं या नहीं। एक वैष्णव विद्वान्ने निम्नलिखित टीकाएँ बतलायी हैं—

१ नारायणकृत 'प्रद्योतनिका', २ पुजारीगोस्वामीकृत 'बालबोधिनी', ३ जगद्धरकृत 'भावार्थदीपिका', ४ शङ्करमिश्रकृत 'रसमञ्जरी', ५ रंगनाथकृत 'गीतगोविन्दमाधुरी', ६ कृष्णदत्तकृत 'गङ्गा', ७ राधा

कुम्भकृत 'रसिकप्रिया', ८ नारायण कविराजकृत 'सर्वाङ्गसुन्दरी', ९रसमयदासकृत, १० मिश्रकान्तकृत,११ मानाङ्ककृत,१२ परमानन्दकृत और १३ कुमारखानकृत। इनके अतिरिक्त जर्मन विद्वान् श्री औफेक्टके द्वारा सकलित सूचीमें २२ टीकाओंके नाम और दिये हैं। कुछ आधुनिक विद्वानोकी भी टीकाएँ सुनी गयी हैं।

---

(३०)

निःसङ्कोच भजन कीजिये

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा था कि 'भजन तो करता हूँ। पर माला न रखनेपर तो बहुत भूल हो जाती है और माला रखनेपर संकोच होता है। कुछ मित्र लोग मजाक करते हैं और कुछ लोग भक्त समझकर सम्मान करने लगते हैं। अतएव क्या करूँ?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि यदि माला रक्खे बिना भूल होती है तो सारा सङ्कोच छोड़कर अवश्य माला रखनी चाहिये। इसमें लज्जा-सङ्कोचकी क्या बात है। मित्रलोग मजाक करते हैं तो करने दीजिये। मजाक करनेमें उनको सुख मिलता है तो आनन्दकी ही बात है। आपकी किसी क्रियासे मित्रोंका मनोरञ्जन हो, उन्हें सुख मिले, यह तो आपके लिये सुखकी बात है। पर कहीं ऐसा तो नहीं है कि सङ्कोच तो आपका अपना मन ही करता हो और अपना दोष छिपानेके लिये मित्रोंके मजाककी बात, गौण होनेपर भी मनने उसको प्रधानता दे दी हो, ऐसा हो तो आपको सावधान हो जाना चाहिये और मनको समझा देना चाहिये

कि इसमें लज्जाकी बात तनिक भी नहीं है। लज्जा आनी चाहिये— झूठ बोलनेमें, गंदी जबान निकालनेमें, निन्दा-चुगली या व्यर्थकी बात करनेमें, किसीका अहित करनेमें, क्रोध और लोभके वश होनेमें, परस्त्रीके प्रति बुरी नजरसे देखने या मनमें भी बुरा भाव लानेमें, दूसरेकी वस्तुको—किसीके स्वत्वको हरण करनेमें, चोरी, ठगी और छल-कपट करनेमें तथा दूसरे-दूसरे बुरे काम तन-मन-वचनसे करनेमें। मनुष्य-का बड़ा दुर्भाग्य है कि वह इन सब कामोंके करनेमें तो तनिक भी नहीं लजाता, बल्कि कोई-कोई तो ऐसे कार्योंमें गौरवतक मानते हैं तथा गर्व करते हैं पर भगवान्‌का नाम लेने या भजन करनेमें उन्हें लज्जा आती है। यही एक ऐसा श्रेष्ठ कर्म है, जिसको लज्जा छोड़कर करना श्रेष्ठ माना गया है। लज्जाको तिलाञ्जलि देकर भजन करनेवाला प्रेमी स्वय ही पवित्र नहीं होता, वह समस्त विश्वको पवित्र करता है—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

उद्धवजीसे श्रीभगवान् कहते हैं—

'जिसकी वाणी प्रेमसे गद्‌गद हो रही है, जिसका चित्त द्रवित होकर बहने लगा है, जो प्रेममें कभी रोता रहता है, कभी खिलखिला-कर हँसने लगता है और कभी सारी लाज छोड़कर उच्च स्वरसे गाने और नाचने लगता है। मेरा वह भक्त त्रिभुवनको पवित्र कर देता है।'

भगवान्‌का जो नाम विवश होकर एक बार लेनेपर भी मनुष्य-को पापरहित कर देता है, उस महान् सहायक, परम कल्याणकारक परम हितैषी भगवन्नामके लेनेमें लज्जा कैसी ? और उस प्रिय नामका स्मरण करानेवाली कल्याणकारिणी मालाके रखनेमें सङ्कोच कैसा ? नामके सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं—

अवशेनापि संकीर्त्य सकृद् यन्नाम मुच्यते ।
भयेभ्यः सर्वपापेभ्यस्तं नमाम्यहमच्युतम् ॥
(स्कन्दपु०)

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥
(विष्णुपु० ६ । ८ । १९)

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् ।
ततः सद्यो विमुच्येत यद् बिभेति स्वयं भयम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । १ । १४)

'जिनके नामका एक बार भी विवश होकर भी संकीर्तन कर लेनेपर समस्त भयों और समस्त पापोंसे मनुष्य मुक्त हो जाता है, उन अच्युत भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ ।'

'सिंहके भयसे जैसे मृग छूट जाता है, वैसे ही उन भगवान्‌का नाम विवश होकर लिया जानेपर भी मनुष्य तुरंत समस्त पापोंसे छूट जाता है ।'

'जिन भगवान्‌से स्वयं भय भी भयभीत रहता है, उन भगवान्‌के नामका उच्चारण विवश होकर भी यदि मनुष्य कभी कर लेता है तो वह उसी क्षण मुक्त हो जाता है ।'

रही सम्मान और बड़ाईसे डरनेकी बात सो यह बहुत अच्छी बात है। मनुष्यको मान-बड़ाईसे अवश्य ही डरना चाहिये। यह मीठा विष है, जो प्राप्त करनेके समय मीठा लगनेपर भी वास्तवमें सतत विषमयी मृत्युके चक्रमें डालनेवाला है, परंतु इसके भयसे भगवन्नामकी याद दिलानेवाली मालाका त्याग कर देना बुद्धिमानी नहीं है। भगवान्‌के सामने आप सदा ही विनम्र और विनयशील होकर रहिये। फिर जगत्‌का सम्मान आपका क्या बिगाडेगा। और भगवान्‌का नाम लेनेवालेको तो सदा विनम्र रहना ही चाहिये। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवजीने कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

'जो अपनेको राहके तिनकेसे भी अधिक नीचा समझते हैं, जो वृक्षके समान सहनशील (काटने-तोड़ने और जलानेवालेका भी उपकार ही करता है ऐसा) हैं, स्वयं अमानी हैं और सबको मान देते हैं, उन्हींके द्वारा श्रीहरि सदा कीर्तनीय हैं।'

आप अपने मनमें मान-बड़ाईको स्थान मत दीजिये, फिर लोगोंके द्वारा किया जानेवाला सम्मान आपका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा। भगवत्प्रेमी श्रीसूरदासजीके शब्दोंमें मनसे बार-बार यही कहते रहिये—

मन तोसों केतिक बार कही।
समुझ न चरन गहत गोबिंदके उर-अघ-सूल सही॥
सुमिरन-ध्यान कथा हरि जूकी यह एकौ न भई।
लोभी लंपट बिषयन सों हित यह तेरी निबही॥

छाँड़ि कनक, मनि, रतन अमोलक काँचकी किरच गही।
ऐसो तू है चतुर विवेकी पय तजि पियत मही॥
ब्रह्मादिक रुद्रादिक रवि ससि देखे सुर सब ही।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु सुख तिहुँ लोक नहीं॥

(३१)

सभी अभीष्ट भजनसे सिद्ध होते हैं

सप्रेम हरिस्मरण! कृपापत्र मिला, धन्यवाद! आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमश. इस प्रकार है—

१—भगवत्प्राप्ति अथवा मोक्षका सुगम उपाय

संसारमें बार-बार जन्म लेना और मरना—यही जीवका सबसे बड़ा बन्धन है। कष्ट या दु.ख भी इससे बढ़कर दूसरा नहीं है। इस महान् बन्धन या दुःखसे छूटना ही मोक्ष है। मनुष्य पूर्ण सुख चाहता है, अखण्ड शान्ति चाहता है और पूर्ण तृप्ति चाहता है। इसीके लिये वह संसारके विषय-भोग, धन-वैभव आदिका संग्रह करता है। परन्तु वहाँ उसे परिणाममें दु ख, अशान्ति और अतृप्ति ही हाथ लगते हैं। जहाँ नित्य पूर्ण सुख, नित्य पूर्ण शान्ति और नित्य पूर्ण तृप्ति प्राप्त हो, वह आश्रय हैं भगवान् श्रीकृष्ण। संसारसे विरक्त होकर उन भगवान्‌की शरण लेना और उनका कृपा-प्रसाद प्राप्त करके सदाके लिये कृतार्थ हो जाना ही जीवका परम पुरुषार्थ है। इसे ही भगवत्प्राप्ति कहते हैं, मोक्ष भी यही है। प्यास तभी मिटती है, जब शीतल जलका पान किया जाय। दु खोंसे छुटकारा भी तभी होता है, जब कोई नित्य सुखमय आश्रय प्राप्त हो जाय। केवल दु खोंका अभाव ही नहीं, नित्य सुखकी प्राप्ति भी मोक्षका अङ्ग है।

इसका सबसे सुगम उपाय है—भगवान्‌का अनन्य भावसे भजन। सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते हर समय भगवान्‌का निरन्तर स्मरण होता रहे; धीरे-धीरे, किन्तु लगनसे इसका अभ्यास डालना चाहिये। भगवान् ही अपने माता-पिता, गुरु, स्वामी और सखा हैं। वे ही पालक और सहायक हैं। उनका वरद हस्त सदा अपने ऊपर है—इस विश्वासके साथ अपनी और अपनी कहलानेवाली प्रत्येक वस्तुको मनके द्वारा भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर देना ही अनन्य भजनका सबसे उत्तम प्रकार है। अपनी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌के लिये हो, भगवान्‌की इच्छासे हो। शास्त्रोंकी आज्ञा भगवान्‌की आज्ञा है। अतः शास्त्रीय विधि-निषेधका पूर्णरूपसे पालन करना चाहिये। उसका कोई फल हो तो वह भगवान्‌को ही मिले—ऐसी धारणा रखकर फलकी कामना कदापि नहीं रखनी चाहिये। इस प्रकार भगवान्‌के शरणागत होकर भगवान्‌के लिये ही जीवन धारण करनेवाला भक्त शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। आवागमनके बन्धनों और दुःखोंसे सदाके लिये मुक्त हो सकता है।

इससे व्यवहारमें भी बाधा नहीं आती। संसारके कार्य यथावत् रूपसे करते हुए भी, यह सब ईश्वरकी इच्छासे तथा आज्ञासे और उन्हींके लिये हो रहा है, ऐसा भाव रखते हुए कभी मनमें अभिमान नहीं आने देना चाहिये। मान लीजिये, एक गृहस्थ है। उसे अपने वर्ण और आश्रमके अनुरूप कार्य करते हुए कुटुम्बका भरण-पोषण करना है। वह वर्ण और आश्रमके अनुरूप जो कार्य करता है, उसे भी भगवान्‌की आज्ञा समझकर उन्हींकी प्रसन्नताके लिये करे तथा कुटुम्बमें जितने भी प्राणी हैं, उन सबके रूपमें भगवान् ही आकर

मुझसे यथायोग्य सेवा ले रहे हैं—ऐसा मानकर धर्मसम्मत न्यायोपार्जित धनसे उनका भरण-पोषण करे। इससे उसकी प्रत्येक क्रिया भजन बन जाती है। वास्तवमें सब भगवान् ही हैं, अतः किसी भी प्राणीकी सेवा उन्हींकी पूजा है। मनुष्य अज्ञानवश ऐसा न समझकर अहङ्कार और आसक्तिके वशीभूत होकर सारे कार्य करते हैं, सुतरां बन्धनमें पड़ते और दु.ख उठाते हैं। अतः सबमें भगवान्का दर्शन करके सबकी यथायोग्य यथाशक्ति तथा यथाधिकार सेवा करनी चाहिये। इससे शीघ्र भगवान्की प्राप्ति हो सकती है।

२—आशा-तृष्णा आदिके नाशका उपाय

आशा, तृष्णा, मोह, दम्भ और अभिमान—ये सभी दुर्गुण मलिन अन्तःकरणमें ही अङ्कुरित होते हैं। अतः इनके नाशका उपाय भी भजन ही है। भगवान्के नामका जप करनेसे अन्त.करण शुद्ध होता है। शुद्ध अन्त.करणमें उक्त दोषोंका उद्गम नहीं होता। वे सब अज्ञानके कार्य हैं। भजनसे अज्ञान दूर होता है और विज्ञानका आलोक प्राप्त होता है। संसारके विषयोंमें आसक्ति होनेसे आशाकी उत्पत्ति और तृष्णाकी वृद्धि होती है। इस आसक्तिका निवारण विषयोंसे वैराग्य होनेपर ही सम्भव है। विषयोंसे वैराग्य तभी हो सकता है, जब उनकी आपातरमणीयता, असारता एवं दुःख-रूपताका दृढ निश्चय हो जाय। अथवा भगवान्के प्रति दृढतर अनुराग हो जाय तो विषयोंसे स्वत. वैराग्य हो सकता है, परन्तु ये दोनों बातें अन्योन्याश्रित हैं। वैराग्य होनेपर भगवान्के प्रति अनुराग होगा और अनुराग होनेपर वैराग्य होगा। अत विषय-वैराग्य और भगवदनुरागके लिये भी हमें भजनकी ही शरण लेनी होगी। भजनसे

तीन कार्य एक साथ ही होते हैं—भगवान्‌के प्रति प्रेम बढ़ता है, विषयोंकी ओरसे विरक्ति होने लगती है और धीरे-धीरे भगवान्‌के तत्त्वका ज्ञान भी होता जाता है ।

लोकमें भी यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है—एक व्यक्ति किसीसे प्रेम करता है तो अन्यत्रसे उसकी आसक्ति हटती है और प्रेमपात्रमें अनुराग बढ़ता है । जितना ही प्रेम या अनुराग बढ़ता है, उतनी ही मात्रामें प्रेमी अपने प्रेमास्पदके अन्तरङ्ग रहस्योंसे परिचित होता जाता है । इस प्रकार ज्ञान, वैराग्य और प्रेम—तीनों साथ-साथ बढ़ते हैं । जैसे भोजनके एक-एक ग्राससे क्षुधाकी निवृत्ति, तृप्ति और पुष्टि साथ-साथ होती है, उसी प्रकार भजनसे भगवान्‌के प्रति प्रेम, उनके रहस्योंका ज्ञान और अन्यत्रसे वैराग्य—तीनों साथ-साथ चलते हैं ।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४२)

३—मन-इन्द्रियोंका संयम

इन्द्रिय और मनके संयमका भी अमोघ उपाय है भगवान्‌का भजन—उनकी लीला-कथाओंका श्रवण, पठन और चिन्तन । यह अनुभूत मार्ग है । उपर्युक्त प्रकारसे जब वैराग्य हो जाता है, तब मन और इन्द्रियोंका संयम स्वत सिद्ध हो जाता है । इन्द्रियाँ सदा मनके शासनमें रहती हैं । अत. मनोनिग्रह सिद्ध होनेपर इन्द्रियोंका संयम

अपने-आप हो जाता है। मनका संयम आरम्भमें बहुत कठिन होता है; क्योंकि मन बड़ा चञ्चल है। भगवान्‌का दिव्य रस उसे मिल जाय तब तो वह भी स्थिर एवं एकाग्र हो जाता है, किन्तु उस रसानुभवके पूर्व भी उसके रोकनेका उपाय अभ्यास और वैराग्य है। भगवान् स्वयं कहते हैं—'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।' भगवान्‌की शरण लेकर दृढ निश्चय और श्रद्धाके साथ अभ्यास आरम्भ करनेपर कुछ ही कालमें मन अपना अनुचर बन जाता है।

(३२)

भगवद्भजन सभी साधनोंका प्राण है

सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। वर्तमान संकटकी निवृत्तिके लिये आपने संगठनकी आवश्यकता लिखी सो बहुत ठीक है। आपके विचारोंसे मैं सर्वथा सहमत हूँ। 'कल्याण' में जो भगवद्भजनकी आवश्यकता व्यक्त की गयी है, वह तो सभी साधनोंका प्राण है। भगवद्भावहीन साधन सफलता तो प्राप्त कर सकता है, पर उससे सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती। वाह्य संगठन अथवा साधनोंसे जो सफलता मिलती है, वह निर्जीव और अस्थायी होती है। उसमें प्रतिस्पर्धा, हिंसा, अभिमान और भोग-लिप्साके रोगाणु विद्यमान रहते हैं, जो समय पाकर सारे संसारकी अशान्तिके कारण बन जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि सगठन और अध्यवसायके बलसे पश्चिमीय देश दिनोंदिन उन्नत एवं विजयी हो रहे हैं, किन्तु उनकी वह उन्नति दूसरोंको कुचलकर अपनी भोग-लिप्साको बढ़ानेवाली ही है। इससे अपनी और परायी दोनोंकी ही अशान्ति बढ़

रही है। इसीसे जगद्वन्द्य महात्मा गाँधी भी बाह्य साधन-सामग्रीके सञ्चयपर जोर न देकर आन्तरिक दैवी सम्पत्को ही प्रधानता देते हैं। राम-नाम ही उनका भी प्रधान बल है। अतः हमारा संगठन भी तभी सफलता प्राप्त करा सकता है, जब उसके मूलमें श्रीभगवान् हों। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि विश्वमें विजय प्राप्त करनेके लिये संघ-शक्तिकी भी बड़ी आवश्यकता है और अपने स्थानपर उसे भी अवश्य करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(३३)

जीव भजन क्यों नहीं करता ?

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद।

(१) इसमें सन्देह नहीं है कि श्रीभगवान् ही जीवमात्रके सच्चे सुहृद् और परम आत्मीय सम्बन्धी हैं। वे ही परम सुख और शान्ति देनेवाले हैं। वे जीव-जगत्के आधार हैं। जीवात्मा उन्हींका सनातन अंश है। अतः जीवका भगवान्के प्रति सहज एवं अटूट प्रेम होना चाहिये। जो जीव अपने और भगवान्के इस सहज सम्बन्धकी घनिष्ठताका अनुभव करता है, उसका भगवान्के प्रति स्वाभाविक अटूट प्रेम होता ही है; परंतु न जाने कब किस कारणसे जीव उस करुणामय सुहृद्से बिछुड़ गया। जीव और भगवान्के बीच एक आवरण-सा पड़ गया। अनादिकालसे और अज्ञात कारणवश जीव प्रभुसे अलग है। अलग होकर यह कभी सुख-शान्ति न पा सका। फिर भी मार्ग भूल जानेके कारण वह प्रभुतक पहुँच भी

नहीं पाता। बिछुड़नेके बादसे अबतक इसने अपने मनमे इतने विरोधी संस्कार सञ्चित कर लिये हैं कि उनसे प्रभावित रहनेके कारण इसे अपने प्रेमास्पद प्रभुकी सत्तापर भी यथावत् विश्वास नहीं हो पाता। शास्त्र-श्रवण अथवा सत्सङ्गका अवसर सब जीवोंको तो प्राप्त होता ही नहीं। थोड़े-से लोगोंको यह अवसर अवश्य मिलता है। तथापि उनमें भी अधिकाश जनोंका मन विरोधी सस्कारोके कारण संशयापन्न रहता है, अत· शीघ्र ही शास्त्रोपदेश या सत्सङ्गका उसपर भी यथार्थ असर नहीं हो पाता। हॉ, अधिक कालतक शास्त्रानुशीलन और सत्सङ्ग करनेसे धीरे-धीरे विरोधी सस्कार दूर एवं दुर्वल होने लगते हैं, फिर दीर्घकालके बाद जब अन्त करण शुद्ध हो जाता है, तब प्रभुके साथका अपना सम्बन्ध स्मरण हो आता है। फिर तो पिछली पहचान जाग उठती है और महान्-से-महान् बाधाकी भी परवा न करके प्रेमी जीव अपने प्रियतम प्रभुके पास पहुँचनेके लिये प्रेमके पन्थपर दौड़ पड़ता है। जीव कब बिछुड़ा, क्यों बिछुड़ा ? माया क्यों आवरण डालती है ? इन सब प्रश्नोंमें उलझनेसे आज कोई लाभ होनेवाला नहीं है। जीव जहाँ है, वहींसे उसको अपने प्रभुकी ओर बढ़ना है। कारण और समय कोई भी क्यों न रहा हो, आज जीव अपनेको भगवान्से अलग देखता है। प्रभुसे अपनेको बिछुड़ा हुआ पाता है। यह विलगाव, यह बिछुड़न दूर होनी चाहिये। यही इस विरही जीवकी जन्म-जन्मकी साध है। जब प्रभुके पास था, उनके चरणोंकी सेवामें था, तब इसे सुख था, शान्ति थी, आराम था, आनन्द था और प्रभुके मधुरातिमधुर प्रेम-रसका समास्वादन प्राप्त होता था। आज जब यह जीव प्रभुसे पृथक् हो गया है, तब भी यह उन्हीं

वस्तुओंको चाहता है। पर लक्ष्यभ्रष्ट होनेके कारण यह भौतिक, नाशवान् एवं दु खमय जगत्‌में, यहाँके विषय-भोगोंमें उस सुख, शान्ति, आराम, आनन्द और मधुर प्रेम-रसास्वादनका लाभ लेना चाहता है। मरु-मरीचिकामें हिरन कितनी ही चौकड़ी क्यों न भरे, वहाँ शीतल जल नहीं मिल सकता। इसी प्रकार भौतिक जगत्‌के भोगोंमें शाश्वत सुख-शान्तिकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। भगवान्‌की दयासे जो जीव वस्तुत. इस सत्यको समझ लेता है, वह सब कुछ छोड़कर एकमात्र प्रभु-चरणारविन्दोंका चिन्तन करनेवाला चञ्चरीक बन जाता है। जबतक प्रभु-प्राप्तिके सुखकी विलक्षणता अनुभवमें नहीं आती, तबतक विषयसुख ही श्रेष्ठ एवं स्पृहणीय प्रतीत होते हैं। उस दशामें भजन, साधन, पूजा, पाठ और आराधन आदि भी इस विषय-सुख-सामग्रीका सञ्चय करनेके लिये ही किये जाते हैं। इनकी प्राप्तिमें ही उन साधनोंकी भी सार्थकता दिखायी देती है। सत्कर्म, सत्सङ्ग तथा सत्-शास्त्र-चिन्तनके प्रभावसे जो प्रभुकी महत्ता समझ गये हैं, उन्हें भगवत्कृपाका ही आश्रय लेकर, भगवान्‌की प्राप्तिको ही चरम लक्ष्य बनाकर प्रत्येक साधन अथवा सत्कर्म करना चाहिये। विघ्न, बाधा और विक्षेप आते हैं तो आयें, इस दुःखमय जगत्‌में और है ही क्या, जो आयेंगे। जब अपने साथ भगवत्कृपाका बल है, तब किसी भी विघ्न-बाधासे अपनी क्या हानि हो सकती है। विक्षेप आदिका भय भी भगवान्‌के प्रति अथवा उनकी अकारण करुणाके प्रति अविश्वास-का ही सूचक है। भगवद्विश्वासीकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवा और कुछ आना ही नहीं चाहिये। सत्य यही है कि सब कुछ भगवान् ही हैं। विघ्न-बाधा-विक्षेप भी भगवान्‌से भिन्न नहीं; तब भगवद्भक्तको किसीसे

भी भय क्यों होना चाहिये । निर्भरता और निश्चिन्तता तो भगवद्भक्तका स्वाभाविक गुण है ।

(२) भगवान् तो सत्य सुन्दर, सुखस्वरूप हैं ही । उनके नाम, रूप, लीला, धाम सब वैसे ही हैं । जो भगवान्‌को वस्तुतः इस रूपमें समझ सके हैं, उनका सहज आकर्षण उनकी ओर होता ही है । जिनका सहज आकर्षण उनकी ओर नहीं है, वे भगवान्‌के सत्य, सुन्दर, सुखस्वरूपको नहीं जानते । संसारी वस्तुओंकी ओर आकर्षण इसीलिये है कि वे उनसे सुख पानेकी आशा रखते हैं, यदि उनके हृदयमें वस्तुतः यह विश्वास, यह अनुभव हो जाय कि भगवान् ही सुख, शान्ति, सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम और आनन्द-सुधाके सागर हैं तो वे विषय-सुखको तिनकेकी भाँति त्यागकर उस ओर दौड़ पड़ेंगे ।

(३) जप-कीर्तनादिमें कमजोरी होनेकी बात लिखी, सो मालूम हुई । हृदय, वाणी, कण्ठ तथा मस्तिष्क एवं मेधाको शक्ति प्राप्त हो, ऐसा प्रयोग किसी सद्वैद्यसे पूछकर करना चाहिये । सात्त्विक आहार, संयम, कुपथ्यसे परहेज तथा स्वास्थ्यकर वस्तुओंका सेवन एवं ब्रह्मचर्यपालनपर भी ध्यान देना चाहिये ।

(४) शारीरिक दुर्बलताके कारण भी आलस्य-प्रमाद आदि घेरते हैं, मनकी एकाग्रता भी नहीं हो पाती । अतः शरीरको स्वस्थ बनाये रखनेकी चेष्टाके साथ-साथ एकाग्र ध्यानका भी अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये । मनको एकाग्र करनेका उपाय भगवान्‌ने ही बता दिया है—अभ्यास और वैराग्य । यही पातञ्जल-योगदर्शनका भी मत है । अभ्यास-वैराग्यके स्वरूप और महत्त्वसे आप परिचित होंगे ही । अतः अभ्यास बढ़ानेकी चेष्टा करते रहें ।

(५) श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुको बाह्य जगत्का भान बहुत कम रहता था; वे नित्य ही श्रीकृष्णकी सन्निधिमें रहते थे। उनके लिये सर्वत्र वृन्दावन ही था। उनके भक्तगण ही उनकी सँभाल रखते थे। वृन्दावनकी प्रत्येक वस्तु उनके विरहभावको उद्दीपित करनेवाली थी। अतः वे बार-बार मूर्च्छित हो जाते थे। कभी-कभी यमुनामें कूदकर देरतक डूबे रह जाते। उस दशामें उनके इस शरीरकी रक्षा कठिन जान पड़ने लगी, अतएव भक्तगण इन्हें जगन्नाथपुरी ले गये। प्रभु भक्तपरवश थे। भक्तोंकी इच्छा देखकर ही करुणावश उनके साथ वृन्दावनसे चले गये।

(६) 'निरख सखि ! चार चद्र इक ठोर' वाले पदका संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार जान पड़ता है—प्रिया-प्रियतम दोनों यमुनाजीके तटपर बैठकर उनकी चञ्चल लहरोंकी शोभा देख रहे हैं। उस समय कोई सखी दूसरी सखीसे उस झाँकीका वर्णन कर रही है। प्रिया-प्रियतम-की परछाहीं भी जलमें दिखायी पड़ती है, अतः वे दोसे चार हो गये हैं। शब्दार्थ इस प्रकार है—

'सखी ! देखो तो सही, एक ही स्थानपर चार चन्द्रमा एकत्र हो गये हैं। प्रियतम श्यामसुन्दर और प्रियतमा श्रीकिशोरीजी दोनों बैठे हैं और सूर्यनन्दिनी यमुनाकी ओर देख रहे हैं। चारमेंसे दो चन्द्रमा तो श्यामघनकी भाँति नील वर्णके हैं (एक श्यामसुन्दर और दूसरा उनका प्रतिबिम्ब है) तथा दो चन्द्रमाओंकी झाँकी गौर वर्णकी है। (किशोरीजी और उनका प्रतिबिम्ब—ये दो गोरे हैं) इन चारों चन्द्रमाओंके बीच चार शुक शोभा पा रहे हैं। इनकी नासिका ही शुकके समान प्रतीत होती है। केवल किशोरीजी ही अपनी नासिकामें

मुक्ता-फल धारण करती हैं, अतः वह उन्हींके प्रतिबिम्बमें भी लक्षित होता है। इस प्रकार चार शुकोंके बीच दो ही फल हैं। चारोंके आठ नेत्र ही आठ चकोर हैं। प्रत्येक चन्द्रमा (मुखचन्द्र) के साथ प्रवाल है, कुन्द है और भ्रमर भी है। यहाँ अधर ही प्रवाल हैं, दन्तपङ्क्ति ही कुन्द है आर भ्रूलता ही भ्रमरावलि है। ऐसे शोभामय चन्द्र-ब्रजमें मेरा मन उलझ गया है। सूरदासजी कहते हैं, मेरे दोनों ही प्रभु रूपकी निधि हैं, इन युगल-किशोरकी झाँकीपर बलिहारी है! बलिहारी है!'*

(७) आप तो प्रभुकी लीला-कथाके गायक हैं। उनका निरन्तर चिन्तन करते रहे हैं। प्रभुके रूप, रस, लीला, धाम और नामकी माधुरीमें मनको डुबाये रक्खें; फिर उनका विशुद्ध प्रेम या अनुराग तो प्रभु स्वयं ही दया करके देंगे। वह किसी साधनका फल नहीं, प्रभुकी कृपाकी देन है। शेष भगवत्कृपा।

(३४)

भजनकी महत्ता

भाई साहेब! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला।

---

* निरख सखि! चार चद्र इक ठोर।
निरखति बैठि बिलब्रिनि पिय सँग सूर-सुताकी ओर॥
द्वै ससि स्याम नवल-घन सुदर द्वै कीन्हें बिधि गोर।
तिनकें मध्य चार सुक राजत द्वै फल आठ चकोर॥
ससी सुअग प्रबाल कुद अलि अरुझि रह्यो मन मोर।
सूरदास प्रभु अति रति नागर बलि-बलि जुगल-किसोर॥

मेरी समझसे तो आपके लिये इस समय 'सब तज हरि भज' ही सर्वोत्तम चीज है। वैसे तो सभीके लिये यही एक चीज अपनाने लायक है। मानव-जीवन मिला ही है भगवत्-भजनके लिये। भजनके बिना जीवन सर्वथा व्यर्थ है। इस कलिकालमें तो भजन ही एकमात्र साधन है और जो भगवद्भजन करता है, वही असलमें सर्वगुणसम्पन्न है।

> एहिं कलिकाल न साधन दूजा।
> जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥
> रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि।
> संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥
> जासु पतित पावन बड़ बाना।
> गावहिं कबि श्रुति संत पुराना॥
> ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई।
> राम भजें गति केहिं नहिं पाई॥
> सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता।
> सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
> धर्म परायन सोइ कुल त्राता।
> राम चरन जाकर मन राता॥
> नीति निपुन सोइ परम सयाना।
> श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥
> सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा।
> जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥

गोस्वामीजीने उपर्युक्त वाक्योंमें यही बताया है। फिर, आप तो जीवनमें बहुत कुछ संसारका काम भी कर चुके। अब विनाशी

धनकी चिन्ता छोड़कर अविनाशी परम धन भगवद्भजनको बटोरिये। सब कुछ छोड़कर इसीमें लग जाइये। तभी आपको सच्चा पुरुषार्थी समझा जायगा। कृपा बनाये रक्खें। मुझे भी आशीर्वाद दें। जिसमें मैं भी भजनमें लगूँ। शरीर अस्वस्थ रहता है, पता नहीं कब चला जाय। इसलिये अब तो मुझे भी केवल भजन ही करना चाहिये। विशेष भगवत्कृपा।

---

(३५)

श्रेय ही प्रेय है

आपका कृपापत्र मिला। श्रेय-प्रेयके विषयमें कठोपनिषद्में यम-नचिकेताके संवादमें बड़ा सुन्दर वर्णन है। आपको वहाँ देखना चाहिये। श्रेयका अर्थ है भगवान्—कल्याण, मङ्गल, शुभ, परम हित आदि और प्रेयका अर्थ है भोग—अत्यन्त प्रिय, सुखदायक, प्रीतिकर, रमणीय आदि। श्रेयार्थीकी दृष्टि परिणामकी ओर होती है और प्रेयार्थीकी आपातसुखकर भोगोंकी ओर। या यों कहना चाहिये कि प्रेयार्थी प्रत्यक्षवादी होता है और श्रेयार्थी यथार्थवादी। प्रेय अविद्या है और श्रेय विद्या। इसीलिये प्रेयको श्रेयका विरोधी माना गया है। मनुष्य जबतक आपातरमणीय विषयोंके पीछे पागल रहता है और मतवाले भँवरेकी भाँति एक फूलसे दूसरे फूलपर मँडराता रहता है, तबतक उसे प्रेयके अतृप्तिकारी, अनित्य, परिणाममें भय और मृत्यु देनेवाले, दुःखमय स्वरूपका पता नहीं लगता। श्रुति कहती है—'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति'—'जो भूमा है, उसीमें सुख है। अल्पमें सुख नहीं है।' जो सदा ही अधूरा है, कभी पूर्ण होता ही नहीं, जिसका आज अस्तित्व है

पर जो कल ही नष्ट हो सकता है अथवा जो प्रतिपल प्रवाहरूपसे विनाशकी ओर ही जा रहा है। उस अल्पात्मा, अल्पकालस्थायी पदार्थमें सुख कहाँ ? इसीसे तो श्रीराघवेन्द्र मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

मनुष्यकी महान्, अनन्त और असीम आकाङ्क्षा है—भगवान्‌के पूर्ण स्वरूपकी उपलब्धि। अतः अल्प, सान्त और ससीम वस्तुसे उसकी तृप्ति कैसे हो सकती है ? फिर प्रेयका सुख तो वास्तवमें अल्प भी नहीं है। उसमें तो सुखका केवल भ्रम ही होता है। अज्ञानके कारण ही आपातरमणीय वस्तु सुखकर प्रतीत होती है। जैसे जहरके लड्डू मीठे मालूम होते हैं, परन्तु परिणाममें मृत्युकारक होते हैं, वैसे ही प्रेय—भोग भी बार-बार मृत्युके मुखमें ही ले जानेवाले हैं। इतनेपर भी प्रेयका मोह नहीं छूटता !

शास्त्र और संत डंकेकी चोट भोगोंकी दुःखरूपता और हेयताका प्रतिपादन करते हैं तथा बीच-बीचमें श्रेयकी सुन्दर झाँकी भी करा देते हैं, परन्तु मनुष्य प्रेयको ही सुखकर मानता है और श्रेयकी उपेक्षा करता है। तथापि श्रेयस्वरूप आत्माका लक्ष्य स्वाभाविक ही श्रेय होनेके कारण उसे अन्यत्र कहीं भी विश्राम नहीं मिलता। वह प्रेयके लक्ष्यसे जहाँ भी जाता है, वहीं उसे—चाहे वह उसे न समझे—श्रेयकी ही आवश्यकता प्रतीत होती है; श्रेयके लिये ही उसके प्राण छटपटाते हैं। वह सर्वत्र पूर्णको ही खोजता है। यों करते-करते भगवत्कृपासे जब कभी ज्ञानकी आँखें खुलने लगती हैं,

तब उसे प्रतीत होने लगता है कि वास्तवमे एकमात्र भगवान् ही—जो जीवमात्रके अदर आत्मारूपसे विराजित हैं (अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित)—परमपूर्ण सुखस्वरूप हैं। जगत्के जितने पदार्थ हमे प्रिय और आवश्यक प्रतीत होते हैं, वे सभी इस आत्माकी प्रियताको लेकर ही या आत्माके लिये ही प्रिय प्रतीत होते हैं। आत्माके लिये ही उनसे हमारा प्रेम होता है, उन पदार्थोंके लिये नहीं।

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति।' (बृह० उ० २। ४। ५)

याज्ञवल्क्यने कहा—अरी मैत्रेयी! सबके लिये सब प्रिय नहीं होते, आत्माके लिये ही सब प्रिय होते हैं, अत सबसे बढ़कर प्रेय वस्तु आत्मा ही है।

'तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा।' (बृह० उ० १। ४। ८)

'यह जो अन्तरतर आत्मा है, यह पुत्रसे बढ़कर प्रेय है, वित्तसे बढ़कर प्रेय है, यह सभीसे बढ़कर प्रेय है।' इस अवस्थामें प्रेय भी श्रेयका ही रूपान्तर या नामान्तर हो जाता है, क्योंकि यहाँ श्रेयस्वरूप—मङ्गलमय परम प्रेमास्पद प्रेममय भगवान् ही प्रेय बन जाते हैं। ऐसी अवस्थामें जीवनके समस्त कार्य इन परम प्रेय भगवान्के सुखके लिये ही होते हैं। असलमें जो सुख आत्माके लिये सुखकर हो, वही श्रेय है और जो इन्द्रियोंके लिये सुखकर हो, वही प्रेय है। भगवान् आत्माके भी आत्मा परमात्मा हैं। इनकी प्रीतिके लिये जो सासारिक भोगोका ग्रहण होता है, वह वस्तुतः विषयोपभोग नहीं

होता, वह तो विषयरूप सामग्रीके द्वारा भगवान्‌का पूजन होता है और इसीलिये उसका परम फल भी परम श्रेय—कल्याण ही है।

भक्ति-साम्राज्यकी सर्वोच्च सम्राज्ञी श्रीराधिकाजी एवं उनकी अभिन्न प्रतिमा व्रजाङ्गनाएँ इसी भावसे परम प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण-के लिये जीवनके समस्त कार्य करती थीं। उनका भगवान्‌के प्रति वात्सल्य और मधुर भाव इसी बुद्धिसे था। राजा परीक्षित्‌के यह पूछनेपर कि 'गोपियोंका अपने पति-पुत्रादिसे भी बढ़कर श्रीकृष्णमें प्रेम क्यों हुआ?' श्रीशुकदेवजीने कहा है—

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
(श्रीमद्भा० १०।१४।५४-५५)

'आत्मा ही सब प्राणियोंके लिये प्रियतम है। यह सारा चरा-चर जगत् (पति-पुत्र, भूमि-भवन, साम्राज्य-सुख्याति आदि) आत्माके सुखके लिये ही प्रिय हुआ करता है और श्रीकृष्ण ही अखिल आत्माओंके आत्मा हैं। (इसीलिये श्रीकृष्णके प्रति गोपियों-का इतना स्नेह है।)' भगवान् श्रीकृष्णने गोपाङ्गनाओंके विषयमें स्वयं उद्धवजीसे कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
(श्रीमद्भा० १०।४६।४)

'गोपियोंने अपने मन और प्राण मेरे समर्पण कर दिये हैं और मेरे लिये ही उन्होंने समस्त देह-सम्बन्धियोंका त्याग कर दिया है।'

इससे सिद्ध है कि यहाँ प्रेय और श्रेयमें कोई भेद नहीं रह

गया है। श्रेय ही प्रेय है और प्रेय ही श्रेय है। श्रेयस्वरूप श्रीकृष्ण ही प्रियतम हैं और प्रियतम श्रीकृष्ण ही श्रेयस्वरूप हैं। इस प्रकार श्रेयको प्रेय बना लेनेमें ही मनुष्यजीवनकी सार्थकता है।

(३६)

आत्मविसर्जनमें आत्मरक्षा

भैया! हृदयकी सच्ची बात तो यह है कि जो पुरुष किसी बाह्य वस्तुविशेषमें आत्मभावना करके 'आत्मरक्षा' के लिये व्याकुल है, वह असलमें अभी पवित्र प्रेम-राज्यमें प्रवेश ही नहीं कर पाया है। भगवत्कृपासे जिसके जीवनमें सच्चे भगवत्प्रेमका आभास भी आ जाता है, उसका जीवन और उसके जीवनकी क्रिया अत्यन्त विलक्षण हो जाती है। जगत्के साधारण लोगोंकी दृष्टिमें वह पागल होता है या होता है कर्तव्यसे पतित। वे उसकी चेष्टाओंका देखकर उनका अपने तराजूसे जो मापतौल करते हैं सो सर्वथा भ्रमपूर्ण होता है। परन्तु वे बेचारे क्या करें? उनके पास तौलनेका साधन जो वही अपनी स्थितिका तराजू है, जिसमें वे स्थित हैं। प्रेमी पुरुष अपने लिये वस्तुतः कुछ चाहते ही नहीं। उनका आत्मा किसी क्षेत्र या वस्तुविशेषमें सीमाबद्ध नहीं होता। वह मुक्त और सर्वव्यापी होता है। अतएव वे अपने लिये व्यक्तिगत रूपसे न तो आत्मरक्षाकी कल्पना करते हैं और न वे ऐश्वर्य, स्वर्ग या मोक्ष ही चाहते हैं। वे तो निरन्तर खुले हाथों अपने-आपको वितरण करनेमें ही लगे रहते हैं। वे अपने हृदयकी मधुर प्रेमसुधा-सरिताकी प्रत्येक बूँदको अखिल विश्वचराचरके क्षुद्रतम

परमाणुतकमें बाँटकर सबको अमृतमय बनानेके लिये व्याकुल रहते हैं और जब प्रेमसुधासे परिपूर्ण उनके मधुर हृदयमें अमृत-रसकी बाढ़ आ जाती है, तब वे उसे किसी तरह रोक नहीं सकते और इसीलिये वह समस्त बन्धनोंको तोड़कर अखिल विश्वके प्राणियोंको आप्यायित करनेके लिये जोरोंसे वह निकलती है। उस समय उसके लिये मेरा-तेरा या अपना-पराया कुछ नहीं रह जाता। वस्तुत. इस 'अ.त्मविसर्जन'मे ही 'सच्ची 'आत्मरक्षा' है। पृथक् सुखकी इच्छा न रहकर सबके सुखके लिये जो आत्मविसर्जन होता है—अपने समस्त सुखोंका त्याग होता है, उससे जिस महान् सुखकी प्राप्ति होती है, वह अतुलनीय है। असलमें आत्मविसर्जन ही असीम सुखकी प्राप्तिका एक प्रधान साधन है। यह बात सहज ही सबकी समझमें नहीं आती।

जिस आत्मरक्षामें विश्वात्माके किसी अङ्गपर सचमुच प्रहार सम्भव हो, वह आत्मरक्षा कैसी ? वह तो प्रत्यक्ष ही आत्मापर आघात है—आत्मघात है।

यद्यपि मैं आवश्यकतावश इस विषयमे कभी-कभी दूसरी दृष्टिसे भी लिखता और बोलता हूँ। वह भी धर्मसम्मत होता है एवं उसका भी विशेष प्रयोजन है तथापि जहाँतक मेरी दृष्टि है, मैं यह कह सकता हूँ कि मेरी अधिष्ठानभूमि वही है, वह न बदली है और न उसके बदलनेकी सम्भावना ही है। असलमें भगवान् जब जो कराते हैं, हमे वही करना चाहिये और उस समयके लिये वही ठ.क भी होता है। हमें तो उनके हाथका यन्त्र बने रहना है। हाँ, इतनी सावधानी अवश्य रहनी चाहिये कि कहीं भगवान्‌की

जगह धोखेसे अहङ्कार अपनी प्रभुता न जमा ले। भगवान्‌से प्रार्थना है कि वे इस धोखेसे बचावें और वे बचावेंगे ही। अधिक क्या लिखूँ।

तुम्हारा इस समय क्या कर्तव्य है, इसका उत्तर मै क्या दूँ। हृदयमे द्वेष तो जरा भी नहीं रहना चाहिये। फिर प्रभु जो प्रेरणा करे, वही ठीक है।

(३७)

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य

सप्रेम हरिस्मरण !

मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य है भगवत्प्राप्ति अथवा भगवत्प्रेम-की प्राप्ति। इस उद्देश्यको निरन्तर सामने रखकर ही हमारे सारे कार्य, सारे व्यवहार, सारे विचार, सारे सकल्प-विकल्प और मन-बुद्धि तथा शरीरकी सारी चेष्टाएँ होनी चाहिये। सबकी अबाध गति निरन्तर श्रीभगवान्‌की ओर हो। यही साधन है। भगवान् साध्य हैं और यह जीवन उसका साधन है। इसीमें जीवनकी सार्थकता है। अतएव बुद्धि, मन, प्राण और इन्द्रियॉ—सबको सर्वभावसे श्रीभगवान्‌की ओर अनन्यगतिसे लगा देना चाहिये। हम कुछ भी काम करें, कुछ भी विचार करें—'भगवान् ही हमारे जीवनके एकमात्र लक्ष्य हैं'—यह स्मृति सदा जाग्रत् रहनी चाहिये। सभी चेष्टाओंका यह एक ही उद्देश्य होना चाहिये। जो कर्म, जो चेष्टा भगवान्‌की ओर न ले जाय, 'भगवान् ही जीवनके लक्ष्य हैं' इसको भुला दे, उस कर्म और उस चेष्टासे हमारा बड़ा अनिष्ट होता है।

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥

'जिनसे श्रीभगवान्‌के चरण-कमलोंमें प्रेम न हो, वे सभी सुख और धर्म-कर्म जल जायँ।' वह शरीर—वह जीवन भी जल जाय, जो श्रीभगवान्‌का नहीं हो गया—

जरि जाहु सो जीवन जानकिनाथ,
जिऐ जगमें तुम्हरो बिनु ह्वै।

असलमें जीवन होना चाहिये भगवत्प्रेममय; परन्तु भगवत्प्रेम सहज नहीं है। हमारा मन तो दिन-रात भोग्यपदार्थोंकी चिन्तामें लगा है। इसीसे हम जीवनके असली लक्ष्य—भगवत्प्राप्तिको भुलाकर दिन-रात भोगोंका ही चिन्तन और भोगोंका ही अन्वेषण करते हैं तथा भोगोंका ही सरक्षण-सवर्धन करनेके व्यर्थ प्रयासमें लगे रहते हैं। भगवान् हमारे जीवनके लक्ष्य हैं, यह बात कभी याद ही नहीं आती और यदि कभी याद आती है तो ठहरती नहीं। इसीसे दिन-रात चिन्ता-चिताकी भयानक लपटोंमें जलते रहते हैं—क्षणभरके लिये भी शान्तिकी शीतल-सुधाधाराका स्पर्श नहीं होता। श्रीतुलसीदास-जी महाराजने बहुत ठीक कहा है—

ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहुँ मन बिश्राम।
भूत द्रोह रत मोहबस राम बिमुख रति काम॥

जो (भोगकामनाओंके लिये) जीवोंके द्रोहमें लगा है, मोहके फंदेमें पड़ा है, रामविमुख है और भोगासक्त है, उसको क्या कभी स्वप्नमें भी सम्पत्ति, शुभ शकुन और चित्तकी शान्ति मिल सकती है? असलमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा एवं भगवान्‌की स्मृति भी बिना भगवत्कृपा-के नहीं होती।

तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन ।
जानहिं भगत भगत उर चंदन ॥

भगवान्‌की ओर लग जाना सर्वथा पुरुषार्थके अधीन ही नहीं है । भरसक पुरुषार्थ तो करना ही चाहिये, परन्तु प्रधान अवलम्बन लेना चाहिये भगवत्कृपाका । भगवत्कृपा ही भगवत्प्राप्तिकी इच्छा उत्पन्न होनेका, निरन्तर भगवान्‌की स्मृति होनेका तथा भगवत्प्राप्ति और भगवत्प्रेमकी प्राप्तिका भी प्रधान और एकमात्र उपाय है ।

यद्यपि स्वाभाविक कृपामय भगवान्‌की दया सभी जीवोंपर—चाहे कोई कितना ही पापी क्यों न हो—सदा ही बरसती रहती है । उनका कोई द्वेष्य है ही नहीं, बल्कि वे सभीके सहज सुहृद् हैं, तथापि जबतक मनुष्य उनकी कृपाका अनुभव नहीं कर पाता, तबतक उससे वञ्चित ही रहता है । इसके लिये भगवान्‌से कातर प्रार्थना करनी चाहिये । अत्यन्त दीन और आर्तभावसे उन्हे पुकारना चाहिये । ससारमें एक दीनबन्धुको छोड़कर दीनके लिये और कहीं भी आश्रय नहीं है । जो अत्यन्त अभागा है, सर्वथा शरणहीन, निराश्रय और बिल्कुल अनाथ है । एकमात्र अशरण-शरण, अनाथ-नाथ प्रभु ही उसकी सुनते हैं । उनकी विशाल भुजाएँ सदा फैली रहती हैं उस दु.ख-दैन्य, रोग-शोक, अभाव-अपमान तथा मोह-अज्ञानसे पीड़ित आर्त प्राणीको अपने पाशमें ले लेनेके लिये । उनका विशाल हृदय सदा खुला रहता है सबके द्वारा परित्यक्त, सबके द्वारा उपेक्षित और सबके द्वारा घृणित उस महापातकी आर्त प्राणीको गाढ-भावसे चिपका लेनेके लिये । और उनकी गोद सदा ही खाली रहती है पापी-तापी आर्तको बैठाकर उसे अपनानेके लिये । बस, आर्तभाव

होना चाहिये और होना चाहिये विश्वास तथा दृढ विश्वाससे युक्त आर्त पुकार। द्रौपदीने जब सब ओरसे निराश हो परम आर्त होकर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णको पुकारा, बस, उसी क्षण उनका कृपामय स्वभाव विगलित हो गया। वे अनन्तरूपसे उसकी साड़ी बनकर आ गये। भगवान्‌ने द्रौपदीकी केवल लाज ही नहीं बचायी। द्रौपदीने उनको आर्त होकर कातरभावसे पुकारा था, इसलिये वे उसके कर्ज-दार हो गये। उन्होंने सञ्जयसे कहा था—

ऋणमेतं प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।
यं गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्॥

"सञ्जय! द्रौपदीने बहुत ही व्याकुल होकर 'हा गोविन्द! मेरी रक्षा करो' कहकर मुझे पुकारा था। मैं दूर था, इससे आ नहीं सका। द्रौपदीकी उस पुकारने मुझे उसका ऋणी बना रक्खा है और वह ऋण चक्रवृद्धि व्याजसे बहुत ही बढ़ा जा रहा है। मैं जबतक इस ऋणको चुका न दूँ, तबतक यह बात मेरे हृदयसे निकलती ही नहीं।" क्या ही आत्मीयताके सुन्दर भाव हैं।

अतएव यदि हम आर्तभावसे ठीक पुकारनेकी तरह उन्हे पुकारेंगे, हमारा रोना दिखावटी नहीं, सच्चा होगा तो वे हमारी आर्त पुकार उसी क्षण सुनेंगे।

'भगवान्‌की स्मृति नहीं होती—जीवन भगवान्‌की ओर नहीं लगता—जीवनका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्ति नहीं बन जाता।' इस दुःखसे दुखी होकर जो अत्यन्त दीनभावसे भगवान्‌को पुकारता है, उसपर तो भगवान्‌की कृपा बहुत ही शीघ्र होती है। वे उस समय यह नहीं देखते कि इसके अबतकके

आचरण कैसे रहे हैं। वे देखते हैं केवल उस समयका भाव। वह भाव यदि सच्चा हुआ तो तत्काल उसे अपनी कृपाका आश्रय प्रदान करके निष्पाप और साधु-स्वभाव बनाकर अपनी भक्तिका दुर्लभ दान दे देते हैं। इस तरह सबको छोड़कर भगवान्‌को चाहना निष्काम ही है। इससे तो भगवान् रीझते ही हैं। पर कोई सकाम भावसे भी उन्हें आर्त होकर पुकारे तो उसको भी वे अवश्य अपना लेते हैं। निष्काम या सकाम किसी भी भावसे भगवत्-संस्पर्श होना चाहिये। जीवके लिये भगवत्संस्पर्शसे बढ़कर और कोई सौभाग्य नहीं है। कैसे भी हो, एक बार उसका मन भगवान्‌का स्पर्श तो कर ले। अग्निका स्पर्श होनेपर जलनेमें क्या देर लगती है। भगवत्संस्पर्शरूप अग्निके स्पर्शमात्रसे सारे पाप-ताप तत्काल जल जाते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

अतएव जहाँतक हो—किसी भी भावसे भगवान्‌को आर्त होकर पुकारिये। इससे भगवान्‌की कृपाके दर्शन प्राप्त होंगे। उस कृपासे सारे विघ्नोंका स्वतः ही नाश हो जायगा और सारी सुविधाएँ अपने-आप प्राप्त हो जायँगी।

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई।
गोपद सिंधु अनल सितलाई॥

साथ ही जहाँतक बन सके, भगवान्‌के पवित्र नामोंका जप-कीर्तन तथा उनके दिव्यातिदिव्य गुणसमूहोंका गायन-चिन्तन करते रहिये। भगवान्‌के पवित्र नाम-गुण-गानसे सारे पाप-प्रतिबन्धक तथा सारे दोष तुरंत जलकर खाक हो जायँगे।

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥
(श्रीमद्भा० ६। २। १८)

'उत्तमश्लोक भगवान्‌का नाम चाहे कोई मनुष्य जानकर ले या अनजानमें ले, उसके सारे पाप वैसे ही जलकर खाक हो जाते हैं, जैसे आगमें ईंधन जल जाता है।'

कुपथ कुतरक कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड।
दहत राम गुन ग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड॥

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके गुणसमूह कुमार्ग, कुतर्क, कुचाल और कलियुगके कपट, दम्भ तथा पाखण्डको वैसे ही जला देते हैं, जैसे ईंधनको प्रचण्ड अग्नि।'

इन सब बातोंपर विचार करके विश्वासपूर्वक लग जाना चाहिये और जीवनके परम उद्देश्यको सर्वथा और सर्वदा सामने रखकर उसीकी पूर्तिके लिये जीवनके समस्त कर्म करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इसीमें जीवनकी सार्थकता है। विशेष भगवत्कृपा!

(३८)

भगवत्-सेवा ही मानव-सेवा है

सादर नमस्कार! पत्र मिला! मानव-सेवा निश्चय ही परम श्रेष्ठ साधन है, परन्तु मानव-सेवा यथार्थरूपमें तभी होती है, जब प्रत्येक मानवको भगवान्‌का स्वरूप समझा जाता है। जगत्‌में जितने भी प्राणी हैं—सभी मानो श्रीभगवान्‌के शरीर हैं—विभिन्न अनन्त रूपों,

आकृतियों, स्वभावों और परिस्थितियोंको स्वाँगके रूपमें धारणकर एक भगवान् ही अनन्त विचित्र लीला कर रहे हैं। यह बात जब हमारी समझमें आ जाती है, तब हम सबको भगवान् मानते हुए, सबके प्रति राग-द्वेषविहीन होकर सबका समान आदर करते हुए उनके स्वाँगके अनुरूप उनकी आवश्यकताओंको समझकर सबकी यथासाध्य और यथायोग्य सेवा करनेका प्रयास करते हैं। उस सेवामें स्वाँगके अनुसार भेद रहनेपर भी न तो आसक्ति होती है, न विद्वेष होता है। साथ ही स्वाभाविक ही यह भी भाव रहता है कि 'हम तो सेवामें केवल निमित्तमात्र हैं। सेवा करनेकी प्रेरणा, शक्ति और साधन सब प्रभुके ही यहाँसे आते हैं। प्रभु स्वयं अपनी ही वस्तुओंसे, आप ही प्रेरणा करके, अपनी ही शक्तिसे अपनी सेवा करवाते हैं। इसमें न तो हमारा किसीके प्रति उपकार है, न हम किसीकी सेवा करते हैं, न किसीपर अहसान ही है।' जबतक इस प्रकार सर्वत्र भगवद्भाव नहीं होता और जबतक समस्त वस्तुओंपर, सारी शक्तियोंपर और समस्त प्रवृत्तियोंपर प्रभुका स्वामित्व नहीं जान लिया जाता, तबतक यथार्थ मानव-सेवा नहीं होती। कहीं अहङ्कार-अभिमानकी सेवा होती है तो कहीं कामना-वासनाकी।

सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌की सेवा ही मानव-सेवा है। समाज-सेवा, देश-सेवा, मानव-सेवा, विश्व-सेवा, लोकहित, लोकसंग्रह आदि शब्द मोह पैदा करनेवाले ही होते हैं यदि समाज, देश, मानव, विश्व और लोकमें भगवद्भाव नहीं होता। फिर कर्तव्यपालनके नामपर भी अभिमानकी सेवाका प्रमादपूर्ण कार्य होता है। प्रिय सेवककी व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

योगेश्वर कविने कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, समस्त प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-लता, नदी, समुद्र—सब श्रीभगवान्‌के शरीर हैं। ऐसा समझकर वह, जो कोई भी प्राणी उसके सामने आता है, उसीको अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करता है।'

सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इस प्रकार प्राणिमात्रमें भगवद्भाव होना चाहिये, फिर उसके द्वारा जो कुछ होता है, वह सेवा ही होती है और वही सच्ची विश्व-सेवा है।

इसलिये मेरी रायमें आपको मानव-सेवाके मोहक नामके पीछे पागल न होकर भगवत्सेवाके द्वारा ही मानव-सेवा करनेका अभ्यास करना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि आप अपनी जीवनचर्यामें किसीके दुःखमें उपेक्षा करें और समर्थ होनेपर भी सेवा न करें। आपके पास तन-मन-धन जो कुछ है, सबको श्रीभगवान्‌का समझकर जहाँ जैसी आवश्यकता हो भगवत्स्मरण करते हुए ही भगवत्प्रीत्यर्थ वहाँ उसे लोक-सेवामें अवश्य लगावें—सहज स्वाभाविकरूपसे। भगवान्‌की चीज भगवान्‌के काममें आवे और आपको उसमें निमित्त बननेका सौभाग्य मिले, यह तो आपका सौभाग्य है।

(३९)

मन-इन्द्रियोंकी सार्थकता

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। मैं क्या लिखूँ। जीवनमें जो करना चाहिये था, जिसकी बड़ी आकाङ्क्षा थी, वह अभी नहीं कर पाया। आज भी मन-इन्द्रिय संसारमें ही लगे हैं! वह धन्य और पुण्य दिवस तो आया ही नहीं, जब प्रत्येक इन्द्रिय अनवरत भगवान्‌की सेवामें ही लगी हो। आप जो कुछ कर रहे हैं, कीजिये। जीवनके प्रत्येक क्षणको और इन्द्रियोंकी प्रत्येक चेष्टाको प्रभुकी सेवामें लगाकर उन्हें कृतार्थ बनाइये। यही जीवनका परम और चरम फल है। मैं तो ऐसा नहीं हो सका। आप ऐसे बनिये। श्रीसूरदासजीने गाया है—

सोइ रसना जो हरिगुन गावै।
नैननकी छबि यहै चतुरता, ज्यों मकरंद मुकुंदहि ध्यावै॥
निर्मल चित तौ सोई साँचो, कृष्ण बिना जिय और न भावै।
स्रवननकी जु यहै अधिकाई, सुनि हरि-कथा सुधारस प्यावै॥
कर तेई जे स्यामहिं सेवैं, चरननि चलि बृंदाबन जावै।
सूरदास जैये बलि ताके, जो हरिजू सौं प्रीति बढ़ावै॥

धन्य है ऐसे मन-इन्द्रियोंको और धन्य है इनके धारण करनेवाले सफलजीवन भक्तोंको!

---

(४०)

प्रतिकूलतामें अनुकूलता

सप्रेम हरिस्मरण! श्रीभगवान्‌की दया तो हम सभीपर है। उसका अनुभव करना चाहिये प्रतिकूलतामें। जो मनुष्य प्रतिकूलतामें

भगवद्दयाके दर्शनकर उसे अनुकूलतामें परिणत कर सकता है, वह बड़ा सुखी रहता है। परिणत करना नहीं पडता। बस, प्रतिकूलता-में भगवद्दयाका अनुभव होते ही अपने-आप ही वह प्रतिकूलता अनुकूलता-के रूपमें पलटकर आनन्ददायिनी बन जाती है। संतलोग ऐसा ही किया करते हैं। हमें उनके आदर्शसे लाभ उठाना चाहिये।

श्रीभगवान्‌का नाम-जप करते रहिये और कम-से-कम यह दृढ चेष्टा रखिये, जिसमें वाणी और शरीरसे कोई पाप न हों। मानसिक पापोंसे बचनेकी यथासाध्य कोशिश कीजिये। नामका आश्रय होगा तो पाप आप ही नष्ट हो जायँगे।

---

(४१)

भगवान्‌का मङ्गल-विधान

प्रिय भाई! सप्रेम राम-राम! तुम्हारा पत्र मिला। भगवान्‌की गति कोई नहीं जान सकता। हम क्या-क्या चाहते हैं, क्या-क्या मनसूबे बाँधते हैं और उनकी इच्छासे क्या हो जाता है। उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। इसीसे सूरदासजीने गाया है—

करुनामय हो, तेरी गति लखि न परै।
आगम अगम अगाध अगोचर केहि बिधि बुधि सचरै॥
अति प्रचंड बल-पौरुषतामें केहरि भूँख मरै।
अनायास बिन उद्दिम कीयें अजगर पेट भरै॥
कबहुँक तृन डूबत पानीमें कबहुँक सिला तरै।
बागरमें सागर करि डारै चहुँ दिस नीर भरै॥
रीते भरै भरे ढरिकावै महरि करै तो फेरि भरै।
पाहन बीच कमल परगासै जलमें अगिन जरै॥

राजा रंक रकतें राजा लै सिरछत्र धरै।
सूर पतित तरि जाय छिनकमें जो प्रभु नैंक ढरै॥

सारे संसारका सर्वविध प्रवर्तन उन्हींके मङ्गल-विधानसे हो रहा है। वे ही समस्त जीवोंके हृद्देशमें विराजित होकर सबको भ्रमा रहे हैं। अतएव सर्वभावसे उन्हींकी शरण जाना चाहिये। उन्होंने स्वयं कहा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८।६२)

'अर्जुन! सर्वभावसे उस भगवान्की ही शरण ग्रहण करो। उनके अनुग्रहसे परम शान्ति और शाश्वत स्थानको प्राप्त होओगे।'

श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

जो चेतन कहँ जड करइ जडहि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य॥
मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसकतें हीन।
अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रवीन॥

'जो चेतनको जड और जडको चेतन कर देते हैं, जो जीव ऐसे सर्वशक्तिमान् भगवान् राघवेन्द्रको भजते हैं, वे ही धन्य हैं। प्रभु मच्छरको ब्रह्मा और ब्रह्माको मच्छरसे भी हीन बना दे सकते हैं। ऐसा विचारकर सारे सन्देहोंका त्याग करके चतुरलोग भगवान् श्रीरामजीको भजा करते हैं।'

अतएव भैया! भगवान्के मङ्गल-विधानमें सन्तुष्ट रहकर उनका भजन करना चाहिये। संसारमें जो लोग अपने अनुकूल परिस्थितिको

प्राप्त करके सुखी होना चाहते हैं, वे कभी सुखी होंगे ही नहीं, क्योंकि संसारमें ऐसी कोई स्थिति है ही नहीं जो पूर्ण हो, जिसमें कोई अभाव न हो, और जहाँ अभाव है वहीं प्रतिकूलता है तथा जहाँ प्रतिकूलता है वहीं दु:ख है। दुःखसे मुक्त तो वे होते हैं, जो सावधानीके साथ अपने कर्तव्यका यथाविधि पालन करते रहते हैं, परन्तु प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌का मङ्गलमय विधान देखकर, उनके वरद हस्तके दर्शनकर, उनके मधुर मनोहर करारविन्दका सुख-स्पर्श पाकर आनन्दमग्न होते रहते हैं। शेष भगवत्कृपा।
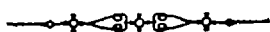
(४२)

भविष्यके लिये शुभ विचार कीजिये

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी पारिवारिक स्थितिसे आपको असन्तोष है, पिताजीके व्यवहारसे आपको क्षोभ होता है और आप आवेशमें आकर गृहत्यागका और कभी-कभी देहत्यागका विचार करते हैं। सो मेरी समझसे आपको ऐसा विचार भूलकर भी नहीं करना चाहिये। संसारमें ऐसा कोई भी नहीं है, जिसके मनकी ही सब बातें होती हों। भगवान्‌का मङ्गल-विधान मानकर प्रतिकूलतामें अनुकूलताका अनुभव करनेसे ही चित्तमें शान्ति हो सकती है। जहाँ आप भगवान्‌के मङ्गल-विधानमें विश्वास करने लगेंगे, वहीं लौकिक परिस्थिति भी बदलने लगेगी। प्रतिकूल भी अनुकूल होने लगेंगे। पर वे न भी होंगे, तो भी आपका क्षोभ तो मिट ही जायगा। भावी जीवनको सङ्कटमय न देखकर

सुखमय देखनेका सङ्कल्प कीजिये। जो मनुष्य रात-दिन दुःख, क्लेश, सङ्कट और असफलताका चिन्तन करता है, वह क्रमशः दुखी, क्लेशित, सङ्कटापन्न और असफल ही होता है। मनुष्यकी अपनी जैसी दृढ भावना होगी, वैसी ही परिस्थितिका निर्माण होगा और अन्तमे वह वैसा ही बन जायगा। आपके भगवान् सर्वसमर्थ हैं, आपके परम सुहृद् हैं, उनकी कृपापर विश्वास करके भविष्यको अत्यन्त उज्ज्वल तथा सुखमय देखनेका अभ्यास कीजिये। ध्रुव, प्रह्लाद, भरत आदिके इतिहासको याद कीजिये। भगवान्‌का कृपासे क्या नहीं हो सकता और उनकी कृपा आपपर अपार है। इस बातपर विश्वास कीजिये। भगवान्‌ने अपनेको स्वय समस्त प्राणियोंका सुहृद् बतलाया है। आप घबराइये नहीं। मनमें जो देहत्याग आदिके असत् विचार आते हैं, उनको निकालकर मनमें बार-बार ऐसे विचार लाइये कि आप सर्वशक्तिमान् सर्वलोकमहेश्वर अकारण प्रेमी भगवान्‌के परम प्यारे हैं। उनकी कृपा-सुधाधारा निरन्तर आपपर बरस रही है। आप उनके लाड़ले पुत्र हैं। उनकी कृपासे आपकी सारी विपदाएँ, सारी अड़चनें स्वतः ही दूर हो जायँगी। उनकी घोषणा है—'तुम मुझमें चित्त लगा दो, मेरी कृपासे सारी कठिनाइयोंसे तर जाओगे।' आपकी प्रत्येक स्थितिसे वे परिचित हैं और सदा आपके कल्याण-साधनमें लगे हैं। उनकी कृपाशक्तिके सामने, आपपर विपत्ति डालनेवाली कोई भी शक्ति कुछ भी नहीं कर सकेगी। आपकी वे सब प्रकारसे वैसे ही रक्षा करेंगे, जैसे स्नेहमयी माता बच्चेकी रक्षा करती है। आप किसी प्रकार भी निराश, उदास और विषादग्रस्त मत होइये। भविष्यको सङ्कटापन्न और अन्धकारमय देखनेका अर्थ है, भगवान्‌की

कृपापर विश्वास न करना । आप जप-कीर्तन तथा भजन करते हैं सो बड़ी अच्छी बात है, पर जप-कीर्तन और भजनका प्राण तो भगवान्‌पर विश्वास है । विश्वासहीन भजन निष्प्राण होता है । घर-वाले यदि आपके भजन-कीर्तनसे नाराज हैं तो मन-ही-मन भजन कीजिये । मन-ही-मन करनेको कोई भी नहीं रोक सकता । शेष भगवत्कृपा ।

(४३)

परिस्थितिपर फिरसे विचार कीजिये

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिले चार महीने हो गये । समयाभाव और स्वभावदोषसे मैं उत्तर नहीं लिख सका, इसके लिये क्षमा चाहता हूँ । आपने अपनी परिस्थिति लिखी, वह अवश्य ही विचारणीय है । ऐसी परिस्थितिमें आपने जैसा लिखा है, दुर्बलहृदय और अनिश्चितबुद्धि मनुष्यके लिये बाध्य होकर इस प्रकारके कर्म करना स्वाभाविक हो जाता है, यह भी ठीक ही है । ऐसी परिस्थितिमें पड़े बिना कोई कैसे कह सकता है कि इस प्रकारके आपद्धर्ममें क्या करना चाहिये । वस्तुतः—

जाके कबहुँ न फटी बेवाँई । सो का जानै पीर पराई ॥

—के अनुसार दूसरेकी परिस्थितिका अनुभव करना और उसे उस परिस्थितिमें इच्छा न रहते हुए भी क्यों ऐसा कार्य करना पडता है, इसका यथार्थ निर्णय करना बहुत ही कठिन है । तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य पापको पाप बताते हुए भी यदि उसे करता है तो या तो वह उसे पाप बताता है पर यथार्थमे समझता

नहीं। सखिया खानेसे मनुष्य मर जाता है, यह पक्का विश्वास जिसको होता है वह सुन्दर दीखनेवाले सुमिष्ट लड्डुओंमें भी सखियेका सन्देह हो जानेपर उन्हे नहीं खाता, क्योंकि वह समझता है कि खाऊँगा तो मै मर जाऊँगा। या इतना उन्मत्त हो गया है कि अपने भले-बुरेका ज्ञान ही खो बैठा है, अथवा उसकी पापमें पापबुद्धि है ही नहीं, केवल दम्भसे उन्हें पाप बतलाता है और परिस्थितिका बहाना लेकर युक्तिवादके द्वारा अपनी दुर्बलताको अवश्यकर्तव्य बतलाकर उसका समर्थन करता है। बहुत बार अच्छाईके वेषमें बुराई आती है, धर्मके नामपर अधर्म आता है और कर्तव्यका स्वरूप धारण करके नितान्त अकर्तव्य आया करता है। ऐसी अवस्थामें मनुष्य उन शास्त्रीय शब्दों या लोकोक्तियोंका, जो अवस्थाविशेषके लिये कर्तव्य होती हैं, सहारा लेकर बुराई, अधर्म या अकर्तव्यका प्रसन्नतापूर्वक वरण करता है। जैसे—

(१) झूठ बोलनेवाला व्यापारी कहता है—व्यापारमें झूठ मिले हुए सत्यके बिना काम ही नहीं चलता। मनुमहाराजने—'सत्यानृतं तु वाणिज्यम्' कहा है। महाभारतादिमें भी व्यापार-विवाह आदिमें मिथ्या भाषण अपराध नहीं माना गया है।

(२) परिवारमें मोह-आसक्ति रखनेवाला सोचता है—भगवान्ने इनको हमारे हाथों सौंपा है, इसलिये इनकी सार-सँभाल करना हमारा धर्म है। भरतजीने भी यही किया था।

(३) आलसी कहता है—

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका यों कहै सबके दाता राम॥

(४) भक्त बनकर अपनी पूजा करानेवाला कहता है—

'राम तें अधिक राम कर दासा ।'

(५) कड़वा बोलनेवाला कहता है—

बुरे लगें हितके बचन हिये बिचारो आप ।
कड़वी भेषज बिनु पिये मिटै न तनकी ताप ॥

(६) अपनेको गुरु बताकर पुजवानेवाला उपदेश करता है—

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े काके लागूँ पाय ।
बलिहारी गुरुदेवकी जिन गोबिंद दिये मिलाय ॥

(७) संत सजकर पूजा करानेवाला भगवान् रामके वचनोंका प्रमाण देता है—

'मोते अधिक संत करि लेखे'

(८) चोर कहता है—स्वयं श्रीकृष्णने माखन चुराया था। इसीसे उनका नाम 'चौराग्रगण्य' है ।

(९) जुआरी मानता है—'द्यूतं छलयतामस्मि' गीताके वचनानुसार जुआ तो भगवान्‌का स्वरूप है ।

(१०) शराबी और मांसाहारी मनुका प्रमाण देते हैं—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

'न तो मांसभक्षणमें दोष है, न मद्यमें और न मैथुनमें ही ।'

(११) स्त्री और सेवकोंपर अत्याचार करनेवाले सारा दोष तुलसीदासजीपर मँढ़ते हुए कहते हैं—

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी । ए सब ताड़न के अधिकारी ॥

(१२) क्रोधी कहता है—

साँच कहूँ होकर निडर कोई हो नाराज ।
मैंने तो सीखा यही साँच बोलिये गाज ॥

(१३) माता-पिताकी अवहेलना करके अपने मतका समर्थन करनेवाला गाता है—

जाके प्रिय न राम-वैदेही ।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥

(१४) झूठा आश्वासन देनेवाले सोचते हैं—कुछ भी कह देना है, करना तो है नहीं 'वचने का दरिद्रता ।'

(१५) बात-बातमें डाँट-डपट करनेवाला कहता है—'साँप काटे नहीं तो क्या फुफकारे भी नहीं ?'

(१६) भाई-भाईसे लोभवश लड़नेवाला—कौरव-पाण्डवोंकी कथा उपस्थित करता है ।

(१७) पर-दोष-दर्शन तथा परनिन्दा करनेवाले प्रमाण देते हैं—

वैद्य न जानैं रोगकों औ जो नहिं देत बताहिं ।
वैद्य धरमतें सो गिरैं रोगी प्रान नसाहिं ॥

—और कहते हैं कि यदि हम किसीके दोष न देखें एवं लोगोंको बताकर सावधान न करें तो कैसे उसके दोष छूटें और कैसे लोग उसके दोषोंसे बचें ।

(१८) वर्णाश्रमानुकूल धर्म, संयम-नियम, सन्ध्यावन्दनादिका त्याग करनेवाले अपनेको प्रेमी घोषित करके कहते हैं—'भाई ! ये सब तो उन लोगोंके लिये हैं, जिन्होंने प्रेमका मुख नहीं देखा है, प्रेम-राज्यमें इनका क्या काम ? एवं नारायण स्वामीके ये दोहे पढ़ देते हैं—

तब लौं यह फाँसी गले, बरनास्रम ब्रत नेम ।
नारायण जब लौं नहीं, मुख दिखलावे प्रेम ॥
धर्म धैर्य संयम-नियम, सोच विचार अनेक ।
नारायण प्रेमी निकट, इनमें रहैं न एक ॥

(१९) कर्तव्य-कर्मोंका त्याग करनेवाला अपनेको ज्ञानी मानकर भगवान्‌के शब्दोंकी दुहाई देता है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

जिसकी आत्मामें ही रति है, जो आत्मामें ही तृप्त है और आत्मामें ही सन्तुष्ट है, उस मनुष्यके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है ।

(२०) आहार-विहारमें पशुवत् व्यवहार करनेवाला गीताका श्लोक पढ़ देता है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी और कुत्ता इन सभीमें ज्ञानी पुरुष समदर्शी होते हैं ।

इसी प्रकार और भी अनेकों बहाने होते हैं बुराईका समर्थन करनेके लिये । वस्तुतः यह इन सद्विचारों एव सदुक्तियोंका भीषण दुरुपयोग और अर्थका अनर्थ है, जो मूर्खतासे या दम्भसे अपनी दुर्बलताको छिपानेके लिये मनुष्य करता है ।

अतएव आप अपने हृदयको टटोलकर देखिये, उसमे कोई छिपा हुआ ऐसा दोष तो नहीं है जो युक्तिवादसे परिस्थितिका बहाना करके आपको धोखा देता हो ।

फिर जो धर्मका सच्चा सेवक है और भगवान्‌के पवित्र पथपर चलना ही जीवनका परम कर्तव्य समझता है उसके लिये तो खुला मार्ग है, उसमे किन्तु-परन्तुको स्थान ही नहीं है । वह तो ऐसा कोई भी कर्म, किसी भी हेतुसे नहीं करता जो अधर्म हो और भगवान्‌के पवित्र पथसे च्युत करानेवाला हो ।

(४४)

दूसरेके नुकसानसे अपना भला नहीं होगा

घर-परिवारका पालन, कुल-जातिकी सेवा और स्वदेशप्रेम सभी आवश्यक है, यथायोग्य सबको इनका आचरण अवश्य करना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिये कि अपने घर-परिवारके पालनमें दूसरोंके घर-परिवारकी उपेक्षा, अपने कुल-जातिकी सेवामें दूसरे कुल-जातियोंकी हानि और स्वदेशके प्रेममे अन्य देशोके प्रति घृणा हो। सच्चा पालन, सच्ची सेवा और सच्चा प्रेम तभी समझना चाहिये जब अपने हितके साथ दूसरेका हित मिला हुआ हो। जिस कार्यसे दूसरोंकी उपेक्षा, हानि या विनाश होता है, उससे हमारा हित कभी हो ही नहीं सकता। भगवान् सम्पूर्ण विश्वके समस्त जीवोके मूल हैं, भगवान् ही सबके आधार हैं, भगवान्‌की सत्तासे ही सबकी सत्ता है, समस्त जीवोंके द्वारा और समस्त जीवोंके जीवनरूपमे भगवान्‌की ही भगवत्ता काम कर रही है। इस बातको याद रखते हुए सबकी सेवाका, सबके हितका और सबकी प्रतिष्ठाका खयाल रखकर अपने कुटुम्ब, जाति और देशसे प्रेम करना तथा उनकी सेवा करनी चाहिये। तभी प्रेम उज्ज्वल होता है एव सेवा सार्थक होती है। नहीं तो, जहाँ हम दूसरेके विनाशमें अपना विकास देखते हैं। वहाँ परिणाममे हमारा भी विनाश ही होता है। यह याद रखना चाहिये कि जिसमे दूसरेका अकल्याण है, उससे हमारा कल्याण कभी नहीं हो सकता।

(४५)

किसीको दुःख पहुँचाकर सुखी होना मत चाहो !

तुम्हारा पत्र मिला, समाचार जाने। इस समय सारा जगत् युद्धमय हो रहा है। जहाँ शस्त्रास्त्रोंसे प्रत्यक्ष लड़ाई नहीं हो रही है, वहाँ भी आज मानवका मन, उसकी चेष्टाएँ और उसके प्रयत्न सभी युद्धसे संश्लिष्ट हैं। तमाम वातावरण कलहपूर्ण है। ऐसी अवस्थामें यदि तुम्हारे यहाँ कलह हो तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। पर तुमको चाहिये कि तुम सदा सावधान रहो और अपने आपको बचाये रक्खो। कठिन होनेपर भी बचे रहना असम्भव नहीं है। दृढ़ निश्चय और सावधानीकी आवश्यकता है।

किसीको दु.ख पहुँचाकर अथवा किसीको दुखी देखकर सुखका अनुभव करना बहुत बड़ी भूल है। मैं तो ऐसा ही मानता हूँ कि दण्डसे अपराध घटते नहीं। अपराधोंका नाश होता है हृदय-परिवर्तनसे और हृदयपरिवर्तन होता है प्रेमसे। भगवान्‌के नियमोंमें जो दण्ड है, वह नामसे 'दण्ड' होनेपर भी असलमें है 'प्रेम' ही, क्योंकि उसमें एकमात्र दण्डनीयके हितकी आकाङ्क्षा है। 'भगवान्‌के दण्ड' का किसी अशमें अनुमान लगाना हो तो अपनी सन्तानको स्नेहमयी माताके द्वारा दिये जानेवाले दण्डसे लगाना चाहिये। माताका हृदय स्नेहसे सना होता है। वह कभी बच्चोंको डाँटती-मारती है तो इसी नीयतसे कि उनका हित हो और मारनेपर जब बच्चा रोने लगता है, तब माका हृदय भी पिघल जाता है। वह भी रोने लगती है, क्योंकि उससे बच्चेका दुःख देखा नहीं जाता। इसी प्रकार भगवान्‌के

दण्डविधानमें भी उनका प्रेम और उनकी सहज दया भरी रहती है। यों भी कहा जा सकता है कि भगवान्‌के यहाँ 'दण्ड' है ही नहीं। वहाँ तो प्रेम-ही-प्रेम है, सौहार्द-ही-सौहार्द है। इसीसे भगवान्‌ने अपनेको प्राणिमात्रका (पापी-पुण्यात्मा, नीच-ऊँच—सभीका) 'सुहृद्' बतलाया है—'सुहृदं सर्वभूतानाम्'। अतएव दण्ड ही हो तो हितकी नीयतसे होना चाहिये। हम आजकल जिसे 'दण्ड' कहते हैं, वह तो यथार्थमें द्वेषका परिणाम है। हम वस्तुतः अपराधीका सुधार नहीं करते, हम तो उसे दण्ड पाते देखकर—दुःखमें पड़े देखकर प्रसन्न होते हैं। हमें जो दूसरेके दुःखमें, उसके अहितमें प्रसन्नता होती है—यह प्रत्यक्ष विद्वेष है। द्वेष चाहता है—दुःख, कष्ट, अमङ्गल और विनाश, प्रेम चाहता है—सुख, समृद्धि, मङ्गल और जीवन। इसीसे द्वेषी मनुष्यको किसीके दुःख, अहित और विनाशमें सुख होता है और इसके विपरीत प्रेमीको किसीके सुख, उत्कर्ष, हित और जीवनमें सुख होता है। तुम प्रेमी बनो, द्वेषी नहीं। फिर किसीके द्वारा भी तुम्हारा अहित नहीं होगा और तुम्हें दुःख नहीं पहुँचेगा; क्योंकि मनुष्यको वही वस्तु अनन्तगुनी होकर वापस मिलती है, जो वह देता है। एक ही बीजके असंख्य फल होते हैं।

भक्त अद्वेष्टा, मित्र और दयालु होता है

फिर जो पुरुष भगवान्‌की भक्ति प्राप्त करना चाहता है, उसके लिये तो भगवान्‌की वाणीका बहुत भारी महत्त्व होना चाहिये। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तके लक्षणोंका वर्णन करते हुए सबसे पहले कहा है—

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।'

भक्त समस्त प्राणियोंके प्रति 'अद्वेष्टा' होता है, सबका 'मित्र' होता है और जहाँ दुःख देखता है, वहाँ तो उसकी करुणाकी सरितामें बाढ़ ही आ जाती है। जहाँ व्यवहारमें 'विरोध' का एक्टिंग करना पडे, वहाँ भी द्वेष तो होना ही नहीं चाहिये। द्वेषका पता लगता है परिणामसे! तुमने जिसका विरोध किया, उसका अहित होनेपर—उसपर सकट पड़नेपर यदि तुम्हे प्रसन्नता या उपेक्षा भी होनी है तो समझना चाहिये कि तुम भगवत्प्रीत्यर्थ या कर्तव्यकी दृष्टिसे केवल अभिनय (एक्टिंग) नहीं कर रहे थे, तुम्हारे मनमें द्वेष था। द्वेष न होता तो तुम्हें उसके अहितमें प्रसन्नता तो होती ही नहीं, उपेक्षा भी नहीं होती, क्योंकि भक्तके नाते तुम तो उसका हित ही करना चाहते थे। किसीके अहितकी तो तुम्हारे मनमें कल्पना भी नहीं होनी चाहिये, इसीसे भगवान्‌ने प्राणिमात्रके साथ मैत्रीभावसे बर्तनेकी आज्ञा दी है। मित्र भी मित्रके शत्रुको शत्रु मान लेता है, इसलिये 'दयालुता' की भी आवश्यकता है। दया मित्र-शत्रुका भेद नहीं करती। वह तो ऐसी वृत्ति है जो किसीका भी दु ख नहीं सहन कर सकती। अतएव भक्तके लिये सर्वथा 'अद्वेष्टा', 'मित्र' और 'दयापरायण' होना अनिवार्य है। तुम इसी आदर्शको सामने रखकर आचरण करनेकी चेष्टा करो, फिर कलहका तुमपर कोई प्रभाव नहीं होगा।

धन-लिप्साका परिणाम संहार

तुम्हारा यह लिखना सर्वथा सत्य है कि 'आजकल धनकी लिप्सा बहुत बढ़ गयी है और इससे मनुष्य भगवान् तथा धर्मको भूल रहे हैं।' भौतिक सभ्यतामें, जिसका लक्ष्य केवल ऐहिक सुख

है, ऐसा हुआ ही करता है। गीतोक्त असुर-मानवका यही तो स्वरूप है। इसी मनोवृत्तिका परिणाम यूरोपका पिछला महान् संग्राम है और इसी मनोवृत्तिने लोककल्याणेच्छु विज्ञानको आज लोकसंहारमें लगा दिया है। अवश्य ही इसका अन्तिम परिणाम बुरा नहीं होगा, यह निश्चय है। यह तो समष्टि-शरीरका ऑपरेशन है, जो उसे निर्विकार—विशुद्ध करनेके लिये हो रहा है, परन्तु जबतक पूरी विशुद्धि नहीं होगी, तबतक महामारी, महायुद्ध, दैवी उपद्रव, दु:ख, कष्ट, संहार, नरककी यातना, आसुरी योनियोंकी पीड़ा आदिके रूपमें ऑपरेशनका काम तो चलता ही रहेगा। अवश्य ही जो व्यक्ति चक्कीकी कीलीसे चिपट रहनेवाले अनाजके दानेकी तरह भगवान्‌का आश्रय पकड़ लेगा, वह इस ऑपरेशनमे बच जायगा।

धनकी दौड़मे धर्मपर अविश्वास

भगवान्‌को प्राप्त करनेके अनेक साधन हैं—एक ही लक्ष्यतक पहुँचनेके अनेकों विभिन्न मार्ग हैं और अधिकारीभेदसे उनका होना अनिवार्य है, परन्तु सबका लक्ष्य एक 'सत्य' की प्राप्ति है। इसलिये उनमें बाहरी विरोध दीखनेपर भी असलमें कोई विरोध नहीं है। केवल साधनोंकी भिन्नता है—मार्गका भेद है। इसलिये कभी-कभी उनमें जो भ्रमवश द्वेष-सा दिखायी देता है, वह तो सत्सङ्गादिके द्वारा भ्रमका नाश होते ही नष्ट हो जाता है, परन्तु आजकलके लोगोंमें तो किसी भी धर्मपर—साधन-मार्गपर आस्था नहीं है, उनका तो लक्ष्य ही स्थिर नहीं है। उनके हृदयोंमें तो अनवरत केवल अर्थकी—भोगाकाङ्क्षाकी आग धधक रही है। वे लगातार एक-

दूसरेसे आगे बढ़नेमें लगे हैं और इसी दौड़में वे अपने असली लक्ष्यको भूलकर जहाँ-तहाँ भटक रहे हैं। इस दौड़का ही परिणाम है भगवान्की सत्तामें अविश्वास, भगवान्की अनावश्यकताका बोध, शास्त्र और धर्मकी अवहेलना, शास्त्र और शास्त्र माननेवालोंका उपहास, सच्चे साधु-संतोंकी अवज्ञा, मनमाना आचरण, धर्मध्वजीपन !

कपट-दम्भ भी बढ़ रहे हैं

तुम्हारा यह लिखना भी ठीक है कि 'पहलेकी अपेक्षा इस समय धर्मकी चर्चा, गीताका प्रचार, हरिनाम-कीर्तन आदि बहुत बढ़ गये हैं।' यों तो गीता और हरिकीर्तनका प्रचार किसी भी नीयतसे हो, अन्तमें उसका परिणाम अच्छा ही होगा और कलियुगमें केवल हरिनाम ही जीवोंके कल्याणका एकमात्र साधन रहेगा। इसलिये युगधर्मके अनुसार भी ऐसा होना ठीक ही है। परन्तु जरा गहरी नजरसे देखोगे तो पता लगेगा कि धर्म-चर्चा आदिके साथ-ही-साथ कपट, दम्भ, छल, धोखेबाजी, बेईमानी, नीच कामना और धन-मानकी दुर्जर दुराकाङ्क्षा आदिका प्रवाह भी बहुत अधिक बढ़ गया है। कहनी और करनीमें, वाणी और हृदयमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ गया है। स्वाँग बढ़े हैं, असलियत घटी है। सरल श्रद्धा तो मर-सी गयी है। इसीसे वास्तविक फल भी कम ही दिखायी पड़ता है। आज कहा तो आस्तिकताके नामपर नास्तिकताका प्रचार हो रहा है और कहीं मरुभूमिकी मरीचिकाके सदृश प्रेमभक्तिके मिथ्या हाव-भाव दिखाकर सरलहृदय नर-नारियोंकी श्रद्धाभक्तिका दुरुपयोग किया जा रहा है। सचमुच इस समय बड़ा ही दुर्दिन है।

सभीको भगवान्‌की आवश्यकता है

एक बात निश्चय समझ रक्खो कि कोई किसी भी क्षेत्रमें हो—ज्ञानी हो, भक्त हो, कर्मयोगी हो, योगी हो, वैरागी हो, धनी हो, दरिद्र हो अथवा पापी-दुराचारी हो—सबके अभीष्ट तो एकमात्र नित्य परमानन्दघन भगवान् ही हैं। इसीलिये उन रसिकशेखर प्रभुकी जबतक प्राप्ति नहीं होती, तबतक जीवको कहीं तृप्तिका बोध नहीं होता। जगत्‌की ऊँची-से-ऊँची स्थितिमें भी वह किसी अपूर्णताका, किसी कमीका अनुभव करता है। अनित्य और अपूर्णसे उसकी तृप्ति होती ही नहीं। इसीलिये वह सदा उससे आगे बढ़नेकी कोशिश करता रहता है। यह नित्य और पूर्ण सुख, नित्य और पूर्ण प्रेम, नित्य और पूर्ण स्वातन्त्र्य, नित्य और पूर्ण ऐश्वर्य एवं नित्य और पूर्ण जीवनकी अच्युत चाह इसी बातको सिद्ध करती है कि वह नित्य निरञ्जन, पूर्णसुखमय, प्रेममय, स्वतन्त्रतामय, ऐश्वर्यमय, अमृतमय सच्चिदानन्दघन भगवान्‌को ही चाहता है—चाहे वह उनका नाम-रूप वाणीसे न बता सके और अपूर्ण वाणीसे पूर्णका पूर्ण व्याख्यान हो भी नहीं सकता। इस प्रकार पूर्ण भगवान्‌की चाह होनेपर भी मनुष्य मोहवश भगवान्‌को भूलकर अनित्य धन, जन, तन, जमीन, मकान, पद, अधिकार, ऐश्वर्य, राज्य, वैभव, कीर्ति, यश आदिकी कामना करने लगता है और अनवरत उसकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करता है। कामना नहीं पूर्ण होती तब दुखी होता है और कहीं पूर्ण होती है तो कामनाका क्षेत्र और बढ़ जाता है; इससे उसका अतृप्तिजन्य दुःख और भी बढ़ जाता है। संसारकी कोई भी वस्तु कामनाकी आगको बुझा नहीं सकती। कामनाके विशाल अग्निकुण्डमें ज्यों-ज्यों काम्य वस्तुकी

आहुतियाँ पड़ती हैं, त्यों-ही-त्यो वह अधिक-से-अधिक भड़कती है। इस प्रकार कामनाकी आगमे जलता हुआ और लगातार निराशाके थपेड़े खाता हुआ भी प्राणी बीच-बीचमे काम्य वस्तुकी प्राप्ति होनेपर एक रसका आस्वादन करता है और मान लेता है कि इसी रसकी पूर्णतासे वह नित्य सुखी हो जायगा। इसीलिये बार-बार विषय-रसकी इच्छा करता है और उसीकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील रहता है। यह जो अनित्य और अपूर्णकी इच्छा है, यही बन्धन है। यह बन्धन तब कटना शुरू होता है, जब अनित्य और अपूर्णकी इच्छाओंसे विरति और नित्य और पूर्णकी एकान्त इच्छा जाग्रत् होने लगती है। नित्य और पूर्णकी प्राप्तिके बाद फिर स्वाभाविक ही कोई इच्छा शेष नहीं रहती, न नयी ही पैदा होती है, क्योंकि पूर्णसे पूर्णताको प्राप्त पुरुषमें कभी 'अभावका भाव' और 'भावका अभाव' होता ही नहीं। वह स्वयं ही स्वरूपगत नित्य और पूर्ण हो जाता है।

यह जो नित्य और पूर्णकी अनन्य इच्छा है, यही जीव-जीवनकी अनन्य परमावश्यकता है, यही उसका परम अर्थ है, जिसके लिये वह अज्ञातरूपमें भी सदा तड़पा करता है। इस परमार्थकी सिद्धि ही परम सिद्धि है। हृदयमे जब यह आवश्यकता जाग्रत् हो जाती है, तब उसे इसको छोड़कर, जैसे डूबते हुए प्राणीको ऊपर उतरानेकी बातके सिवा कोई बात नहीं सुहाती और जैसे प्याससे मरते हुएको जलके सिवा और कोई चीज नहीं सुहाती, वैसे ही कोई भी चीज नहीं सुहाती। उसको उस समय सुख-दुःख, मित्र-शत्रु, धन-दरिद्रता, कीर्ति-अकीर्ति किसीकी भी चाह और परवा नहीं रहती। वह तो एकमात्र अपने प्राणधन—जिसके लिये उसका चित्त एकान्त व्याकुल

हो उठा है, प्रेममय प्रभुके लिये तड़पता है और पछाड़ खाता है। ऐसी अवस्थामें वे नित्य-प्राप्त, नित्य-सङ्गी, नित्य-सुहृद् प्रभु उसके सामने, जैसे वह चाहता है वैसे ही, उसीके इच्छानुसार भाव-भेषमे प्रकट हो जाते हैं और उसे अपने दिव्य बाहुपाशमें बाँधकर, हृदयसे लगाकर, उसके मस्तकपर हाथ फेरकर, सिर सूँघकर, प्रेमाश्रुओंसे उसके मस्तकका अभिसिञ्चन कर, उसके प्रेमाश्रवारिसे अपने चरणपद्मों-को पखरवाकर कृतार्थ कर देते हैं।

भगवान्‌का सौहार्द

भगवान् तो नित्य ही आते है। दिन-रातमे न मालूम कितनी बार आते हैं। हमें उनकी आवश्यकता नहीं। इसीलिये हम उन्हे कह देते हैं—'फिर कभी आना, अभी अवकाश नहीं है।' भगवान् जब कभी हमारे मनमें स्मृतिके रूपमे पधारते है, तब हम उस स्मृतिको पकड़ क्यों नहीं रखते ? इसीलिये कि हमारे सामने उस समय कोई दूसरा जरूरी काम होता है। हम उनकी अवहेलना करते हैं। वे तिरस्कृत होकर चले जाते हैं, परन्तु फिर आते हैं—फिर-फिरकर आते हैं, फिर भी हम उनका आदर नहीं करते। तब भी वे तो हमे नहीं छोडते—नहीं छोडना चाहते। हमारे भूल जानेपर भी वे हमें नहीं भूल सकते। हमारे तिरस्कार करनेपर भी वे हमारा आदर ही करते हैं। हमारे छोडनेपर भी वे हमे नहीं छोडते, हमारे दुत्कारकर निकाल देनेपर भी वे बार-बार आकर अपनी मधुर झाँकी दिखाना चाहते हैं। छिप-छिपकर झाँकते हैं नववधूकी तरह, व्याकुल होकर दौड़ते हैं स्नेहमयी जननीकी तरह। इसीलिये तो वे

भगवान् हैं। 'भोग' हमारे बुलानेपर भी नहीं आते और हमारे न चाहनेपर भी, लाख खुशामद करनेपर भी धक्का और धोखा देकर चले जाते हैं और 'भगवान्' बिना बुलाये ही आते हैं और न चाहनेपर भी, अपमान करनेपर भी, धक्का और धोखा देनेपर भी नहीं जाते। यह सहज कृपा-शक्ति ही—जो उनमें कभी अकृपा करनेकी ताकत पैदा नही होने देती—उनकी भगवत्ता है। इतनेपर भी हम उनकी आवश्यकता नहीं समझते—यह हमारा कितना अभाग्य है।

परन्तु वे तो तब भी नहीं छोड़ते। जब किसी भी उपायसे हम उनकी ओर नहीं ताकते, तब कृपापरवश होकर वे दु.खके—भयानक दु:खके रूपमें हमारे सामने प्रकट होते हैं और हमारे अंदर अपनी आवश्यकता जगाकर हमें अपना लेते हैं। इसीलिये तो भक्तगण भगवान्से दु.खका वरदान माँगा करते हैं।

पत्र बहुत लम्बा हो गया। तुम्हारी बहुत-सी बातोंका उत्तर इसमें आ गया है। अब फिर कभी।

---

(४६)

बदला लेनेकी भावना बहुत बुरी है

प्रिय महोदय! आपका कृपापत्र मिला। 'रोगको मारो, रोगीको नहीं', 'कल्याण' में प्रकाशित इस सिद्धान्तपर आपने अपने विचार प्रकट किये सो आपने जिस दृष्टिसे अपने विचार लिखे हैं वे ठीक ही हैं। यह सत्य है कि स्वयं भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णने दुष्टोंको मारा है। शास्त्र और कानूनमें भी दण्ड-विधान है, पर जरा खयाल कीजिये—भगवान्के द्वारा दुष्टोंको दण्ड देनेमें या शास्त्र तथा कानूनके

दण्ड-विधानमें दुष्टोंके प्रति बदला लेनेकी भावना है या उन्हें अपराध-शून्य विशुद्ध बना देनेकी ? बदला लेनेकी भावना बहुत ही बुरी है ! इस भावनामें विवेक नहीं रहता और विवेकरहित दण्ड-विधान विशुद्ध नहीं होता। उसमें जिसको दण्ड दिया जाता है, उसके अनिष्टकी कामना भरी रहती है। यह मन रहता है कि इसे जितना कष्ट मिले, उतना ही अच्छा। यहाँ भी कष्ट भोगे, नरकोंकी अग्निमें भी जले। कभी सुख पावे ही नहीं। इसीसे उसे कष्ट भोगते देखकर प्रसन्नता होती है। भगवान्‌की मार तो उस माकी मारके समान होती है, जो भलेके लिये ही मारती है और मारकर स्वयं ही पुचकारती भी है। शास्त्र और न्यायकी भी यही मंशा है कि अपराधीकी अपराध-वृत्ति नष्ट हो जाय, वह विशुद्ध होकर शुद्ध जीवन बितावे, जिसमें उसको और उसके द्वारा समाजको भी सुखकी प्राप्ति हो। इसमें भी वस्तुतः रोग-नाशकी भावना है, रोगीके नाशकी नहीं। हाँ, रोगके अनुसार ही दवाकी व्यवस्था होती है। कहीं मीठी दवासे काम चल जाता है तो कहीं बहुत कड़वी दवा देनी पड़ती है और कोई-कोई विशेषज्ञ तो 'काया-कल्प' ही करवा देते हैं। पर ऐसे बहुत थोड़े होते हैं। अल्पज्ञ लोग काया-कल्प कराने लगें तो कायाका ही विनाश कर दें। यह सिद्धान्त है। शेष आपका लिखना ठीक है। 'कल्याण' के पिछले वर्षोंमें ऐसे उर्दू लेख छपे हैं जिन्हें पढ़नेसे आपका बहुत कुछ समाधान हो सकता है। कृपा बनाये रक्खें। विशेष भगवत्कृपा।

निन्दनीय कर्मसे डरना चाहिये, न कि निन्दासे

महोदय ! आपका कृपापत्र मिला । समाचार जाने । निवेदन यह है कि लोक-निन्दा जैसे एक ओर कर्तव्यपथमें विघ्न है, वैसे ही दूसरी ओर वह जीवन-सुधारका एक सुन्दर साधन भी है । स्तुति सुहावनी होती है और बड़ी मीठी भी लगती है; परन्तु वह जीवनको उच्च स्तरपर नहीं ले जाती; मोहजाल फैलाकर उन्नतिके मार्गको रोक देती है । निन्दा बुरी लगती है, पर वह निर्दोष बनानेमें बड़ी सहायता करती है । स्तुति करनेवाला बिना ही हुए गुण सुना-सुनाकर मनुष्यके चित्तमें अहंकारका विष उत्पन्न करके उसे जर्जरित कर डालता है, परन्तु निन्दक अपनी तेजधार जीभकी छुरीसे उसके एक-एक सड़े अङ्गको काट-काटकर उसकी जरा-जरा-सी मवादको निकाल डालनेका सहज प्रयत्न करता है—इसीसे संतोंने निन्दकको निकट रखनेकी शिफारिस की है—'निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय ।'

आपका यह लिखना सत्य है कि 'निन्दाको सहन करना बड़ा ही कठिन है ।' जब थोड़ी-सी भी निन्दा सहन नहीं होती, तब जहाँ निन्दाका स्रोत सीमा तोड़कर बह निकलता है, वहाँ तो वह असह्य हो जाती है, मनुष्यका मन तिलमिला उठता है और वह विवेकशून्य होकर निन्दकका नाश करनेपर उतारू हो जाता है । उसका कर्तव्य-ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह अपनी सारी शक्ति इसीमें लगाकर अपनेको खो बैठता है ! पर यह मनुष्यकी कमजोरी है । वीर-धीर मनुष्य तो वह है, जो निन्दा-स्तुतिकी सीमाको लाँघकर अपने कर्तव्य-पथपर अग्रसर होता है, जो निन्दक और स्तावक दोनोंको पीछे ढकेल-

कर वीरताके साथ आगे बढ़ जाता है। बुद्धिमान् वही है, जो अपने लाभ-हानिको सोचकर काम करे। आवेशमे या हठमे आकर कुछ भी कर बैठनेवाला तो पछताता ही है।

अतएव आप निन्दासे मत डरिये और न स्तुतिकी चाह कीजिये तथा न स्तुति सुनकर प्रसन्न होइये। ससारमें किसकी निन्दा नहीं होती ? दोष देखनेवालोंकी आँखें तथा दोष कथन करनेवालोंकी वाणी ईश्वरतकमें दोष देखती और बतलाती है। फिर अपूर्ण मानव, जो दोष-गुणसे युक्त है,—की तो बात ही क्या है ? साधक पुरुषको तो निन्दामे प्रसन्न होना चाहिये, क्योंकि निन्दाका प्रसार होनेसे लोक-सम्मानकी और प्रतिष्ठाकी मीठी बीमारी मिट जाती है और साधक चुपचाप अपनी साधनामे प्रवृत्त रह सकता है। अवश्य ही निन्दनीय कर्म कभी नहीं करना चाहिये, परन्तु निन्दा हो तो उसमें अपना परम लाभ ही मानना चाहिये। डर निन्दनीय कार्यसे होना चाहिये, निन्दासे नहीं।

(४८)

निन्दासे डर नहीं, निन्दनीय आचरणसे डर है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने जो कुछ लिखा है, उससे पता लगता है आप सर्वथा निर्दोष हैं और वे लोग अकारण ही आपपर कलङ्क लगाकर आपको दुखा रहे हैं। ससारमें ऐसा प्राय हुआ करता है। झूठा कलङ्क तो लोगोंने श्रीकृष्णपर भी लगा दिया था। जिनको परचर्चा और परनिन्दामे मजा आता है, वे लोग

स्वभावतः ही ऐसा किया करते हैं। कुछ लोग बहुत बुरी नीयतसे जान-बूझकर ऐसा करते हैं। पर जिसकी निन्दा की जाती है, वह यदि निर्दोष है, भगवान्‌के सामने सच्चा है तो परिणाममें उसका कदापि अहित नहीं हो सकता। आपको यह समझना चाहिये कि भगवान् आपको कलङ्क-तापसे तपाकर और भी उज्ज्वल बनाना चाहते हैं। आपके जीवनको सर्वथा निर्मल बनानेके लिये ही ऐसा हो रहा है। आपको इससे डरना नहीं चाहिये, न उद्विग्न ही होना चाहिये। श्रीभगवान् सर्वान्तर्यामी, सर्वतोचक्षु और सदा सर्वत्र वर्तमान हैं, उनसे हमारे मनके भीतरकी भी कोई बात छिपी नहीं है, यदि हम उन भगवान्‌के सामने सच्चे हैं तो फिर हमें किस बातका भय है। साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि कर्मका फल देनेवाले भी भगवान् ही हैं, हमारे कर्मके अनुरूप ही हमें फल मिलेगा। दूसरोंके बकनेसे कुछ भी नहीं हो सकता।

असलमें इस प्रकारकी झूठी निन्दामें जो भगवान्‌की कृपाका अनुभव करते हुए निर्विकार और प्रसन्न रहते हैं, वे ही विश्वासी साधु या भक्त हैं। जो लोग आपकी झूठी निन्दा करते हैं, वे बेचारे तो दयाके पात्र हैं, क्योंकि आपपर मिथ्या कलङ्क लगाकर अपने ही हाथों अपनी ही हानि कर रहे हैं। इस कुकर्मका फल उन्हें भोगना पड़ेगा। पर आपको तो उनका उपकार मानना चाहिये। आपके लिये तो वे आपका चरित्र निर्मल बनानेमें सहायता कर रहे हैं। उनके प्रति जरा भी द्वेष नहीं करना चाहिये।

निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
बिनु पानी बिन साबुना निर्मल करै सुभाय॥

संतोंकी यह वाणी याद रखने योग्य है। आपका ऐसा भाव होगा तो भगवान् आपपर विशेष प्रसन्न होकर आपकी सहायता करेंगे।

हाँ, आप अपने चरित्रको सदा सावधानीसे देखते रहिये। उसमें कहीं जरा-सा भी दोष दिखायी दे तो उसे दूर करनेकी चेष्टा कीजिये। किसीके द्वारा की जानेवाली मिथ्या निन्दासे आपका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, परंतु यदि आपके अंदर सचमुच दोष होगा, निन्दाके योग्य आचरण या भाव होगा तो जगत्के द्वारा प्रशंसा प्राप्त करके भी आप उसके बुरे परिणामसे—अनिष्टसे बच नहीं पायेंगे। अपने मनकी कालिमा ही सच्चा कलङ्क है, दूसरोंके द्वारा अकारण लगाया जानेवाला कलङ्क नहीं।

(४९)

पाप कामनासे होते हैं—प्रकृतिसे नहीं

सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। आपने लिखा—"गीता अध्याय ९ श्लोक २७—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

—इस श्लोकके मुताबिक मैं मछली-मास, ताडी-शराब, अपनी-स्त्री-प्रसङ्गकी कृया (क्रिया) या परायी स्त्री-प्रसङ्गकी कृया (क्रिया), इतनी चीज यदि हमारी प्रकृति समय-समयपर ग्रहण कर रही है तो मैं ईश्वरको अर्पण कर सकता हूँ या नहीं। अगर आप कहें कि यह सब कर्म ही क्यों नहीं छोड़ देते तो स्त्री छूट ही नहीं सकती। मछली-मास, ताडी-दारू, परायी स्त्री-ग्रहण भी नीचे लिखे श्लोकोंके

मुताबिक हो ही रहा है तो हमको क्या करना चाहिये ।'''श्लोक अध्याय ३ श्लोक ५—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥"

यहाँतक पत्रलेखक महोदयके अपने शब्द हैं ।

इसका उत्तर यह है कि श्रीभगवान्‌ने गीतामें यह बतलाया है कि मनुष्य क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

इसी प्रसङ्गमें यह कहा है कि 'सब लोग प्रकृति-जनित गुणोके द्वारा परवश होकर कर्म करनेको बाध्य होते हैं ।'

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

इसका अभिप्राय यह है कि संसारका प्रादुर्भाव प्रकृतिजन्य सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे होता है । सारा संसार गुणमय है और ये तीनो गुण प्रत्येक जीवमे न्यूनाधिक रूपमे रहते है । जबतक ये गुण विषम अवस्थामें हैं, तबतक संसार है और जबतक संसार है, तबतक संसारका कोई भी प्राणी कर्मरहित होकर नहीं रह सकता, उसे इन्द्रियोके या मनके द्वारा किसी-न-किसी कर्ममे लगे रहना ही पड़ता है । अर्थात् बुद्धिका किसी विषयमें निर्णय एवं निश्चय करना, चित्तका चिन्तन करना, मनका मनन करना, कानका सुनना, त्वचाका स्पर्श करना, आँखका देखना, जीभका चखना, नासिकाका सूँघना, वाणीका शब्दोच्चारण करना, पैरोंका चलना, गुदा-उपस्थका मल-मूत्रादि त्याग करना और प्राणोंका श्वास लेना—आदि कार्योंमेंसे कोई-न-कोई होता ही रहता है । इसका यह अर्थ लगाना कि मनुष्य प्राकृतिक गुणोके वशमें होकर मछली-मांस खाने,

शराब-ताड़ी पीने और पर-स्त्री-गमन आदि पापोमे लगनेको बाध्य होता है, सर्वथा अनर्थ करना है । पाप प्रकृतिकी प्रेरणासे नहीं होते । पापके होनेमे हेतु हैं—मनुष्यके अंदर रहनेवाली कामना । भगवान्-ने गीताके इसी तीसरे अध्यायमे यह स्पष्ट कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव. ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(३ । ३७)

'रजोगुणरूप आसक्तिसे उत्पन्न काम ही (प्रतिहत होनेपर) क्रोध बन जाता है । यह काम बहुत खानेवाला (भोगोंसे कभी न अघानेवाला) और बड़ा पापी है । इसीको तुम इस विषयमे (पाप बननेमें) वैरी समझो ।'

और अन्तमे भगवान्ने इस कामनापर विजय प्राप्त करनेके लिये आज्ञा दी है—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

'हे महाबाहो ! इस कामरूप दुर्जय शत्रुको तुम मार डालो ।'

यदि मनुष्यको परवश होकर पाप करनेको बाध्य होना पड़ता तो गीताका यह प्रसङ्ग निरर्थक होता । यही नहीं, विधि-निषेधात्मक समस्त शास्त्र ही व्यर्थ होते । गीतामे ही मनुष्यको कर्म करनेमे स्व-तन्त्र बतलाया है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—यह भी व्यर्थ होता । पर बात ऐसी नहीं है । गीताके ऐसे वाक्योंका इस प्रकार अर्थ लगा-कर अपने पापका समर्थन करना या तो भ्रमसे होता है, या जान-बूझकर गीतापर पाप करानेका दोष मँढ़कर दुहरा पाप किया जाता

है। भगवान्‌ने गीतामे काम, क्रोध और लोभ—इन तीनोंको नरकका द्वार और आत्माका नाश करनेवाले—जीवको अधोगतिमें पहुँचानेवाले बतलाकर इनका त्याग करनेकी आज्ञा दी है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
(१६।२१)

मनुष्यमें यह सामर्थ्य है कि वह काम-क्रोध-लोभपर विजय प्राप्त करे, इनको मारे और इनसे होनेवाले पाप-कर्मोंको समूल नष्ट कर दे। वह यदि ऐसा न करके—इन्द्रियके वश होकर नाना प्रकारके पाप करता है तो दण्डका पात्र होता है। मनुष्यको जो अपने जीवनमें भाँति-भाँतिके दु खों-क्लेशोंका भोग करना पड़ता है, इसका प्रधान कारण उसके अपने किये हुए ये पाप ही हैं, जिन्हें वह चाहता तो छोड़ सकता था। अतएव आपका यह सर्वथा भ्रम है, जो आप मास-मछली, शराब-ताड़ीके खान-पान और व्यभिचारको परवश होकर किये जानेवाले कर्म मानते हैं और इनसे छूटनेमें अपनेको असमर्थ बताते हैं। ये पाप प्रकृति नहीं कराती। ये कराती है आपकी भोगासक्ति, और जो भोगशक्तिके वश होकर पाप करेगा, उसको उसका भयानक परिणाम भी अवश्य ही भोगना पड़ेगा।

यह आपका दूसरा महान् भ्रम है, जो आप गीता (९।२७) का हवाला देकर पापकर्मका ईश्वरके अर्पण करनेकी बात सोचते हैं। इस श्लोकमें हवन, दान और तपके अर्पण करनेकी बात कही गयी है, वह तो स्पष्ट ही शास्त्रीय और गीताकथित हवन, दान और तप आदि क्रियाओंके लिये है। 'तुम जो कुछ भी कर्म करते हो, जो कुछ

खाते हो'—('यत्करोषि' तथा 'यदश्नासि') इनमें भ्रम हो सकता है, परंतु गीतामें भगवान्‌की यह स्पष्ट घोषणा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(१६। २४)

'तुम्हारे कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। यह जानकर तुम्हें वही कर्म करने चाहिये, जिनका शास्त्रोंमें विधान है।'

अतएव वस्तुतः कर्म वे ही हैं, जो शास्त्रनियत हैं, शेष तो विपरीत कर्म यानी निषिद्ध हैं। निषिद्ध कर्मोंको कभी भगवान्‌के अर्पण नहीं किया जा सकता। भोगासक्तिवश पापकर्म करना और उन्हें भगवान्‌के समर्पण करनेकी बात सोचना ही एक बड़ा पाप है।

अतएव आप दोनो ही भ्रमोंको तुरत छोड़ दीजिये। याद रखिये कि न तो आप मछली-मास खाने, शराब-ताड़ी पीने और व्यभिचार करनेके लिये परवश हैं और न किसी भी पापकर्मको कभी भगवान्‌के अर्पण ही किया जा सकता है। आपके जो मित्र या गुरु गीताका इस प्रकारका अर्थ करते हैं, उनसे भी सावधान रहना चाहिये।

(५०)

काम नरकका द्वार है

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद! आपके प्रश्नोंपर मेरा अपना विचार इस प्रकार है—

(१) 'मायाबस परिछिन्न जड जीव कि ईस समान' में 'जड' शब्द अज्ञानीका वाचक है। अज्ञानी जीव ही आत्माके स्वरूपको भूल जानेके कारण अपनेको मायाके अधीन और परिच्छिन्न मानता है। प्रभुकी कृपासे उनका साक्षात् कर लेनेके बाद अज्ञान नहीं रहता। फिर मायाकी अधीनता और परिच्छिन्नताका भ्रम भी नहीं होता। यही जीवका शुद्ध रूप है। वह अपनेको भगवान्का किङ्कर मानता और सब कुछ भगवत्स्वरूप समझता है। उसके और भगवान्के बीच फिर कोई दूसरी वस्तु नहीं आती। वह भगवान्की सेवाका सुख उठानेके लिये ही अपनेको उनसे पृथक् रखता है। वस्तुतः तो वह भी भगवत्स्वरूप ही है। इस प्रकार शुद्ध रूपमें आया हुआ जीव भगवान्के सदृश ही नहीं, उनसे अभिन्न है। फिर तो वह 'जीव' नहीं, विशुद्ध आत्मा अथवा भगवान्का किङ्कर है। 'चेतन अमल सहज सुख-रासी' है। जबतक वह मायाके अधीन होकर भूला-भटका फिरता है, तभीतक प्रभुसे दूर या विलग-सा हो रहा है। इस भ्रम या अज्ञानको दूर करनेका उपाय है अनन्य भक्तिके द्वारा प्रभुका साक्षात्कार अथवा विवेकनिष्ठाके द्वारा तत्त्वज्ञानकी उपलब्धि। प्रभु-भजन ही सुगम और अमोघ उपाय है, उससे तत्त्वज्ञान भी प्राप्त होता है, अत. प्रभुकी निरन्तर भक्तिद्वारा उनके साक्षात्कारका यत्न प्रत्येक जीवको करना चाहिये।

(२) ईश्वरको 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः' कहा गया है। वे करने, न करने अथवा अन्यथा करने (विधानको पलट देने) में भी समर्थ हैं। साराश यह है कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। आपकी शङ्का है—'क्या वह बीते हुए समय (भूतकाल) को लौटा सकता

है ?" उत्तरमें निवेदन है, 'हाँ ।' भूत, वर्तमान और भविष्यका भेद उन्हीं लोगोंके लिये है, जिनका जीवन एक नियत समयतकके लिये है । नित्य सनातन परमात्माकी दृष्टिमें न भूत है, न भविष्य । उनके लिये सब कुछ वर्तमान है । वे स्वयं ही काल हैं, उन्हींके गर्भमें यह सारा प्रपञ्च चल रहा है । आपने पुराणोंमें पढ़ा होगा, जब सारे जगत्का प्रलय हो गया था, सब कुछ एकार्णवमें डूब चुका था, उस समय भी बालरूपधारी मुकुन्दके मुखमें प्रवेश करके महर्षि मार्कण्डेयने तीनों लोकोंका पूर्ववत् दर्शन किया था । एक ही व्यक्तिने एक ही समय प्रलय और सृष्टि दोनोंका दृश्य देखा था । वास्तवमें हम सूर्यके उदय-अस्तद्वारा कालकी गणना करके भूत, भविष्य, वर्तमानका विभाग करते हैं, परतु काल तो नित्य शाश्वत है, वह तो उस समय भी रहता है, जब सूर्य-चन्द्रका पता भी नहीं चलता । कालके ही उदरमें सूर्य-चन्द्रमाकी सृष्टि होती है । 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।' हम कालका आरम्भ कल्प अथवा सृष्टिके आरम्भसे मानते हैं, परंतु उस महाकालके जठरमें न जाने कितने करोड़ों बार सृष्टि और प्रलयकी लीला हो चुकी है । अतः नित्य कालकी सृष्टिसे भूत-भविष्य मिथ्या हैं, वर्तमान ही सत्य है, ऐसी दशामें जिसे हम अतीत या भूत कहते हैं, वह प्रभुके स्वरूपमें वर्तमान ही हो तो क्या आश्चर्य है ?

(३) आपकी जीवन-गाथा पढ़ी । पढ़कर खेद हुआ । आप उच्च कुलमें उत्पन्न हुए । आपके घरमें धर्माचरणका वातावरण है । सब लोग उच्च विचारके और सच्चरित्र हैं । आपलोगोंके यहाँ साधु पुरुष भी आते-जाते रहते हैं, तब भी आपके हृदयमें इतना भयङ्कर मोह अभीतक कैसे बना हुआ है ? भाई ! भोगोंकी तृष्णाका कभी

अन्त नहीं है। आपने मनोऽनुकूल पत्नीकी सार्थकता इसीमें समझी है कि भोगोंकी अबुझ पिपासाको शान्त करनेका अबाध अवसर प्राप्त हो। राजा ययातिके सोलह हजार दो स्त्रियाँ थीं। (अपनी सोलह हजार सुन्दरी सखियोंके साथ शर्मिष्ठा उनके अन्तःपुरमें रहती थीं और अप्रतिम रूपवती देवयानी उनकी महारानी थीं;) फिर भी हजारों वर्षोंतक विषयसेवनके बाद भी उनकी तृष्णा शान्त नहीं हुई और वे दुखी होकर पुकार उठे—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषां त्यजेत्॥
पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा यत्तेष्वेव हि जायते॥

'भोगोंकी इच्छा कभी भोगसे नहीं शान्त हो सकती, जैसे घी डालनेसे आग और प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार भोग भोगनेसे उसकी इच्छा और बढ़ती जाती है। इस संसारमें जितने धान, जौ, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक मनुष्यके लिये भी पूर्ण नहीं हैं; अर्थात् ये सब एक पुरुषको ही दे दिये जायँ तो भी वह यह नहीं कह सकता कि 'बस, अब पूरा हो गया, और कुछ नहीं चाहिये।' विषयोंमें मनको फँसाये हुए मुझे एक हजार वर्ष पूरे हो गये, तो भी प्रतिदिन उन्हींकी लालसा बनी रहती है।'

गीतामें 'काम' को 'दुष्पूर अनल' कहा है अर्थात् काम वह अग्नि है, जिसमें विषयोंकी कितनी ही आहुति पड़े, वह कभी तृप्त

नहीं होता। उसका कभी पेट नहीं भरता। इसीलिये वह 'महाशन' भी कहा गया है। इसके लिये गीताका स्पष्ट आदेश है—'इस कामरूपी दुर्धर्ष शत्रुको मार डालो।'

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

नरकके तीन दरवाजोंमें काम सबसे प्रमुख है। आपकी पत्नी देहातकी सीधी-सादी महिला हैं, इसे आप अपना सौभाग्य समझें। यदि सतीत्वको कुसंस्कार माननेवाली कोई शहरी पत्नी आपको मिल गयी होती तो वह आपके पहले ही आपके पथका अनुसरण करती! यदि आप एक निरपराध पत्नीके रहते हुए दूसरीका चुनाव करने चलते तो वह बहू भी शायद दूसरा पुरुष चुननेमें तनिक भी संकोच नहीं करती। उस समय आपके हृदयमें जो आग जलती, उसे बुझानेकी आपमें शक्ति नहीं रह जाती। अबतक पत्नीने आपकी इन दुष्प्रवृत्तियों-को जानकर भी विरोध नहीं किया, यह भारतीय सतीकी सहज उदारता है। वह उपेक्षा और तिरस्कारको चुपचाप पी जाती है, परंतु पतिको दुःख न हो, इसके लिये 'उफ्' भी नहीं करती। इन सतियोंके इस त्याग और बलिदानका आप-जैसे पुरुष अनुचित लाभ उठाने लगे हैं। इसीलिये अब नारियोंमें भी इसकी प्रतिक्रिया होने लगी है और इस प्रकार हमारा समाज रसातलकी ओर गिरता चला जा रहा है!

आप विवेकशील हैं, ईश्वरके समान बननेकी इच्छा रखनेवाले शुद्ध चेतन सहज सुखराशि आत्मा हैं, फिर जड हाड़-मासके पुतले-पर पागल होकर अपना सर्वनाश क्यों कर रहे हैं? मनुजी कहते हैं—'मनुष्यकी आयुको नष्ट करनेवाला पाप परस्त्री-सेवनसे बढ़कर

दूसरा नहीं है।' अबसे भी आप अपने पूर्वजोंकी, अपने कुलकी मान-मर्यादाको ध्यानमें रखकर आत्मोत्थानके पथमें लगिये। विषयके कीट बनकर नरकमें पहुँचनेके लिये सुरंग न खोदिये। मेरा तथा समस्त शास्त्रोंका भी मत यही है कि इस पाप-पथपर आप पैर न रक्खें। सत्सङ्ग करें। सत्पुरुषोंकी जीवनी पढ़ें। माता दुर्गा आपकी इष्टदेवी हैं, उनसे रोकर प्रार्थना करें—'मा! मुझे बल दो, मैं तुम्हारा योग्य पुत्र बन सकूँ। सदा सर्वत्र समस्त स्त्रियोंमें केवल तुम्हारे मातृरूपके ही दर्शन करूँ।' माता आपका मङ्गल करेगी। शेष प्रभुकी कृपा!

---

(५१)

बुराईका कारण अपने ही अंदर खोजिये

आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें कुछ विलम्ब हो गया है, इसके लिये क्षमा करे। बात यह है कि हमलोग दूसरोंके अच्छे-बुरे कार्योंपर, दूसरोंकी उन्नति-अवनतिपर और दूसरोंकी सद्गति-दुर्गतिपर विचार करनेमें और उनपर अपना मत देनेमें जितना समय नष्ट करते हैं, उतना समय यदि श्रीभगवान्‌के नाम-लीला आदिके चिन्तनमें और उनके गुण-कीर्तनमें लगायें तो हमें बहुत बड़ा लाभ हो सकता है। जहाँ दूसरोंके गुण-दोष-चिन्तन और कथनमें राग-द्वेष, स्तुति-निन्दा होती है और मनमें वैसे ही संस्कार अङ्कित होते हैं, वहाँ यदि हम श्रीभगवान्‌के दिव्य कल्याणमय गुणगणका स्मरण-कीर्तन करें तो हमारे अंदर छिपे हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। अन्तःकरण शुद्ध होता है और भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है। पर हम इतने मूढ़ हैं कि हमें परचर्चा बहुत मीठी लगती है और इसीसे हम अपने

जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ ही इसमें लगाकर विविध भाँतिकी असत् भावनाओं, कुविचारों एव दुर्गुणोंको अपने अदर भरते रहते हैं !

इससे एक बड़ी हानि यह होती है कि हमे अपने दोषोंकी ओर देखनेका समय नहीं मिलता और अदर-ही-अदर दोप बढ़ते जाते हैं । असलमे बुद्धिमान् मनुष्य तो वही है कि जो अपने उत्थान-पतनकी ओर दृष्टि रखकर नित्य-निरन्तर सावधानीके साथ पतनके कारणोंको दूर करता रहता है ।

आपको मैं क्या परामर्श दूँ । मुझे तो ऐसा लगता है कि जबतक आप अपनी बुराइयोंकी ओर ध्यान देकर उनको मिटानेका पूर्ण प्रयत्न नहीं करेंगे, तबतक अपने प्रतिद्वन्द्वियोसे अच्छाईकी आशा करना आपके लिये निराशाका ही कारण होगा । मनुष्य अपनी बुराई नहीं देखता, इसीसे उसे दूसरोंमें सारी बुराईका विस्तार दीखता है । और जितनी बुराई दीखती है, उतना ही द्वेष बढ़ता है तथा जितना द्वेष बढ़ता है, उतनी ही बुराई भी अधिक दीखने लगती है । यह नियम है कि जिसमें राग होता है, उसके दोष भी गुणके रूपमें दिखायी देते हैं और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके गुण भी दोष-रूप दीखते हैं । मनुष्यको दूसरेकी बुराईका कारण अपनेमे खोजना चाहिये । सचाई और गहराईसे देखनेपर तुरत ऐसा कोई दोष अपनेमें दीख जायगा, जो दूसरेमे बुराई उत्पन्न करनेमें हेतु है ।

आप पढ़े-लिखे हैं, समझदार हैं । सोचिये, अपनी ओर देखिये । यदि मेरी बात मानें तो श्रीमद्भगवद्गीताके १६ वें अध्याय-को ध्यानसे पढ़िये और उसमें वर्णित आसुरी-सम्पदाके लक्षणोसे अपने

आचरणोंकी तुलना कीजिये। आपको पता लगेगा कि आपमें दोष हैं कि नहीं। और यदि दोष हों तो फिर, उनको दूर करनेका प्रयत्न करना आपका कर्तव्य ही होगा।

इसीके साथ-साथ आप नित्य कुछ समयतक भगवान्‌के मङ्गल-मय नामका जप कीजिये और इस मानसिक अशान्तिके कारणका सच्चा सन्धान बतलाने और उसे दूर करनेके लिये दयासिन्धु भगवान्‌से कातर प्रार्थना कीजिये। आप विश्वास रखिये, आपकी कातर प्रार्थना अकारण सुहृद् भगवान् अवश्य सुनेंगे और आपको मानस शान्ति प्राप्त हो, इसकी समुचित व्यवस्था कर देंगे। आपको ऐसी आँख देंगे, जिससे आप अशान्तिके कारणको, जो आपके ही अंदर वर्तमान है, स्पष्ट देख सकेंगे और साथ ही ऐसी शक्ति देंगे, जिससे आप उसका अनायास ही विनाश भी कर सकेंगे। उस कारणके मिटते ही आप निर्मल शान्तिका अनुभव करेंगे।
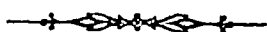
(५२)

मनुष्य-शरीर पाप बटोरनेके लिये नहीं है

सप्रेम हरिस्मरण। आपने अपने पत्रमें हृदय खोलकर रख दिया है। वास्तवमें आजकल व्यापारमें झूठ-कपटकी प्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी है। लोग यही समझने लगे हैं कि बिना झूठ बोले न तो व्यापार होगा और न रोटी ही चल सकेगी।

यह सब इसलिये हो रहा है कि लोगोंका भगवान्‌परसे विश्वास उठता जा रहा है। वे भगवान् और उनकी दयाको भूल गये हैं। जब पूर्वजन्मके महान् पाप उदय होते हैं और उनका प्रभाव बढ़ता

है, तभी भगवान्‌की विस्मृति होती है। यह भगवान्‌की विस्मृति ही विपत्ति है और उनका निरन्तर स्मरण ही सम्पत्ति है। 'विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः।'

धन और भोगकी लालसा इतनी बढ़ गयी है कि उसके सामने भगवान्‌का कोई महत्त्व ही नहीं रह गया है। यह धन और भोगोंकी आसक्ति मनुष्यको दुःख-दैन्यके किस अतल गर्तमे गिराकर डुबो देगी, कहा नहीं जा सकता। यद्यपि रात-दिन झूठ-कपट करने और हाय-हाय करते रहनेपर भी धन और भोग उतने ही मिलते हैं, जितने कि प्रारब्धमें हैं, तथापि मनुष्य व्यर्थकी चिन्ताओंका भार सिर-पर लेकर रात-दिन दुःखकी ज्वालामें जलता रहता है। यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है!

जब हम माताके गर्भमें रहते हैं, उस समय हमारा पालन-पोषण कौन करता है? शैशवावस्थामें, जब कि हम अन्नका एक दाना भी पचा नहीं सकते, माताके स्तनोमे सुपाच्य एव अमृतमय दूधका मधुर स्रोत कौन बहाता है? क्या उस समय भी हम अपने प्रयत्नसे रोटी पाते और जीवन धारण करते हैं? कदापि नहीं। उन सभी अवस्थाओंमें दयामय भगवान् ही हमारे सारे योगक्षेमका वहन करते हैं। समस्त जीवनमें हमे जो कुछ मिलता है, वह सब हमारे प्रारब्धके अनुसार भगवान्‌की दयासे ही प्राप्त होता है। फिर हम व्यर्थ झूठ-कपटका आश्रय लेकर अपने जीवनको सदाके लिये दुःख-मय क्यों बना रहे हैं?

मनुष्यका शरीर इसलिये नहीं मिला है कि अन्यायसे, पापसे और झूठ-कपटसे धन इकट्ठा करनेका प्रयत्न करके अपने भावी

जीवनको नरककी प्रचण्ड अग्निमें झोंक दें। दयासागर दीनबन्धु भगवान्ने जीवको यह एक अवसर प्रदान किया है। जीव मानव-शरीरको पाकर यदि सत्कर्ममें लगता और भगवान्का भजन करता है तो वह सदाके लिये भवबन्धनसे मुक्त हो परमानन्दमय प्रभुके नित्य-धाममें चला जाता है। यदि भोगोंकी आसक्तिमें पड़कर वह सारा जीवन पापमें बिता देता है तो नरकोंकी प्रचण्ड ज्वालामें झुलसनेके पश्चात् उसे चौरासी लाख योनियोंमें भटकना पड़ता है। क्षणिक विषय-सुखके लिये करोड़ों, अरबों जन्मोंतक दु:ख और कष्टमें जलते रहना कहाँकी बुद्धिमानी है? दूसरे लोग पाप करते हैं, झूठ बोलते हैं तो वैसा करें, वे मूर्ख हैं, भाग्यहीन हैं, आँख होते हुए भी अंधे हैं। उन्हें भी नम्रतासे समझाना चाहिये, परंतु हम इसके भयंकर परिणामको जानते हुए भी ऐसी भूल क्यों करें? धर्मका पालन अपनी ही ओर देखनेसे होता है, दूसरोंकी ओर देखनेसे नहीं। दूसरे लोग नदीमें डूबकर प्राण देते हों तो क्या उनकी देखा-देखी हम भी वही करेंगे?

ये भोग नश्वर हैं, क्षणिक हैं। यह दुर्लभ मानव-शरीर भी पता नहीं, कब हाथसे चला जाय। यह समझकर अब भी चेतना चाहिये। जो समय प्रमादमें बीत गया, सो तो बीत गया। अब नहीं बीतना चाहिये, 'अबलौं नसानी, अब न नसैहौं। राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥' ऐसा निश्चय करके बुरे कर्मोंकी ओरसे मनको खींचें। 'भूखों मर जायँगे, दरिद्र हो जायँगे, मगर अन्यायसे, चोरीसे, धन नहीं कमायँगे, दूसरेके स्वत्वका हरण नहीं करेंगे', ऐसी

दृढ़ प्रतिज्ञा करके भगवान्‌के भरोसे रहकर उन्हींकी आज्ञासे न्यायपूर्वक व्यापार कीजिये। उससे थोड़ी भी आय हो तो वह अमृत है। सच्चा भगवद्विश्वासी तो न्यायके अनुसार कर्ममात्र करता है, लाभ-हानि, सिद्धि-असिद्धिकी ओर उसकी दृष्टि ही नहीं रहती। न्यायसे लाभ हो तो अच्छा, किंतु लाभके लिये अन्यायपथपर कदम नहीं बढ़ाना है। भगवान्‌पर विश्वास रखनेवाला पुरुष तो यह सोचता है—

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो
योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः।
क्षेमो विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश-
स्तत्रास्मदीयविमृशेण कियानिहार्थः॥

'जो इस जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहारके एकमात्र कारण हैं, सबके आदि हैं, बड़े-बड़े योगेश्वरोंके लिये भी जिनकी योगमाया-का पार पाना कठिन है, वे त्रिलोकीनाथ भगवान् विश्वम्भर ही हमारा कल्याण—हमारे योगक्षेमका वहन करेंगे। इसके लिये हमारे चिन्ता करनेसे क्या लाभ होगा ?'

आपके हृदयमें झूठ-कपटके लिये पश्चात्ताप होता है, यह शुभ लक्षण है। इसे आप भगवान्‌की कृपा ही समझें। दूकानपर जानेपर जब आप अपनेको रोक नहीं पाते, ग्राहकोंको पटानेके लिये झूठका आश्रय लेते हैं, उस समय आपपर लोभका भूत सवार हो जाता है। यह वस्तुत. आपका शत्रु है। मनुष्य अपनी दुर्बलतासे ही इन भीतरी शत्रुओंको पनपनेका अवसर देता है। वह चाहे तो इनका नाश शीघ्र ही कर सकता है, पर चाहता नहीं, वह इन

शत्रुओंको ही मित्र मानता है। गीतामें आत्माका पतन करनेवाले नरकके ये तीन दरवाजे बताये गये हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(१६। २१)

मेरी सलाह है कि आप भगवान्‌से रोकर प्रार्थना करें और कहें—'भगवन्! मेरे हृदयमें निवास करके समस्त दोषों और दुर्गुणोंको दूर भगाइये। हमारा तन, मन, प्राण सब आपको अर्पित है। आप ही इस रथके सारथि अथवा इस यन्त्रके यन्त्री बनकर इसका संचालन करें। मैं आपके सकेतोंपर यन्त्रकी भाँति कार्य करता रहूँ।' भगवान् आपकी कातर प्रार्थना सुनेंगे और हर समय आपकी रक्षा करेंगे। दूकानपर भी जब लोभकी वृत्ति जाग्रत हो, तब आँख बद करके भगवान्‌का स्मरण कीजिये। उनके नामका जप करते रहिये। जो भी ग्राहक आपके पास आवे, उसे भगवान्‌का स्वरूप समझकर आदर कीजिये और उसके साथ निष्कपटभावसे सत्य कहिये। ऐसा करनेसे आरम्भमें कुछ कठिनाई होगी, कुछ हानि होती हुई-सी दिखायी देगी; किंतु जब आपकी सचाई और ईमानदारीका प्रभाव ग्राहकोंपर पड़ेगा, तब आपकी साख दूसरोंकी अपेक्षा अधिक जम जायगी। भगवान् तो प्रसन्न होंगे ही। मेरा तो यह विश्वास है कि भगवान्‌की ओर हमारी भक्ति, हमारा प्रेम बढ़ता रहे तो लौकिक दृष्टिसे हानि उठानेपर भी वस्तुत. लाभ ही होता है। शेष भगवत्कृपा।

(५३)

परदोष-दर्शनसे बड़ी हानि

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपने
में जो-जो दोष बतलाये हैं, सम्भव है इनमेसे कुछ उनमें हो । यह भी सम्भव है कि उनमें बहुत थोडे दोष हों और आपको अधिक दिखायी पड़ते हों । यह नियम है कि जिसमें राग होता है, उसके दोष भी गुण दीखते हैं और जिसमे द्वेष होता है, उसके गुण भी दोष दीखते हैं । फिर, दोष देखते-देखते जब दोष-दर्शनका स्वभाव बन जाता है, तब दूसरोंके थोड़े दोष भी बहुत अधिक दीखते हैं और कहीं-कहीं तो बिना ही हुए दीखने लगते हैं । ऐसे लोगोंको, द्वेष रखनेवालोंकी बात तो दूर रही, भगवान्‌तकमें दोष दिखलायी देते हैं । इसीलिये संतोंने दूसरोंके दोष देखने और दूसरोंकी निन्दा करनेको साधनका एक बहुत बड़ा विघ्न बतलाया है; क्योंकि दोषदर्शीके मन, बुद्धि और वाणी नित्य-निरन्तर दोषोंके जगत्‌में ही विचरते हैं, वे स्वप्नतकमें भी पराये दोषोंकी ही आलोचना करते हैं । परिणाम यह होता है कि भाँति-भाँतिके दोषोंके चित्र उनके चित्त-पटपर अङ्कित होते चले जाते हैं । वाणीमें असत्य, निन्दा, पैशुन, परापवाद तथा परापकारका दोष आ जाता है । दोष-दर्शनके कारण दोषी दीखनेवाले व्यक्तियोंके कार्योंको देखने और उनका स्मरण करनेसे हृदयमे जलन होती है । फलत. द्रोह, वैर बद्धमूल होकर क्रोध और हिंसाकी क्रियाएँ होने लगती हैं । वैर यहीं समाप्त नहीं होता, वह मरनेके बाद परलोक

और पुनर्जन्ममें भी साथ रहता है। इसीलिये बुद्धिमान् पुरुष कभी किसीका दोष नहीं देखते और न वे कभी परदोषकी चर्चा करके ही पाप बटोरते हैं। वे वस्तुतः बडे ही भाग्यवान् पुरुष हैं, जिनके मनसे कभी परदोषका चिन्तन नहीं होता और जिनकी वाणीसे कभी पर-दोषका कथन नहीं होता। श्रेयस्कामी पुरुषको तो अपने ही दोषोंसे अवकाश नहीं मिलता, फिर वह दूसरोंके दोषोंको देखनेके लिये तो समय ही कहाँसे लाये? पर हमारा स्वभाव तो इतना बिगड़ गया है कि हम अपने दोषोंकी ओर तो कभी दृष्टि ही नहीं डालते और दूसरोंके दोषोंको हजार आँखोंसे देखते हैं। तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

'आप पापको नगर बसावत सहि न सकत पर-खेरो।'

महाभारतमें आता है—

राजन् सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि॥

(आदिपर्व ७४। ८२)

(शकुन्तला कहती है—) 'राजन्! दूसरेका सरसों-जितना छोटा-सा छिद्र भी आप देख रहे हैं और अपना छिद्र बेलके जितना बड़ा है, पर आप उसे देखकर भी नहीं देखते।'

राग-द्वेष न होनेके कारण जिनकी बुद्धिरूपी आँखे वस्तुके यथार्थ स्वरूपको देखती हैं, वे यदि स्वाभाविक सौहार्दवश किसीको दोषमुक्त करनेके लिये प्रेमपूर्वक उसके दोषोको बतलायें तो इसमें आपत्ति नहीं है। पर इस प्रकार निर्दोषबुद्धिसे दोष देखने और बतानेवाले व्यक्ति विरले ही होते हैं। आजकल तो अपने सच्चे और प्रसिद्ध

दोषोंको वागाडम्बरसे छिपाकर अपनेमें झूठे गुणोंका आरोप किया जाता है और उनका ढिंढोरा पीटा जाता है, एवं दूसरेके सच्चे गुणोंपर दोषोंका मिथ्या आरोप करके उनकी निन्दा की जाती है। राजनीतिक क्षेत्रमें तो यह व्यवहार जीवनका एक आवश्यक अङ्ग-सा बन गया है। जन-तन्त्रके नामपर होनेवाले चुनावोंमें यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि जनताका नेतृत्व करनेवाले बड़े-बड़े सुशिक्षित महानुभाव वोटोंके लिये किस प्रकारसे मिथ्या आत्म-विज्ञापन करते हैं और प्रतिपक्षीकी मिथ्या निन्दा करके उसको गिरानेका कैसा निन्दनीय और जघन्य प्रयत्न करते हैं एव इस नंगे नाचमें उन्हें जरा भी लज्जा नहीं आती, बल्कि इसीमें गौरव माना जाता है और विजयकी बधाइयाँ बाँटी जाती हैं। इस दशामें दोष देखनेकी प्रवृत्ति कैसे दूर हो?

इसका एक ही उपाय है और वह यह है कि अपने दोषोंको नित्य-निरन्तर बड़ी सावधानीसे देखते रहना, ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि रखना कि मन कभी धोखा दे ही न सके और क्षुद्र-से-क्षुद्र दोष भी छिपा न रहे। साथ ही यह हो कि दोषको कभी सहन नहीं किया जाय, चाहे वह छोटे-से-छोटा ही हो। इस प्रकार करनेपर अपने दोष मिटते रहेंगे और दूसरोंके दोषोंका दर्शन और चिन्तन क्रमशः बद हो जायगा। अपने दोष एक वार दीखने लगनेपर फिर वे इतने अधिक दीखेंगे कि उनके सामने दूसरोंके दोष नगण्य प्रतीत होंगे और उन्हें देखते लज्जा आयेगी। कबीरजीने कहा है—

बुरा जो देखन मै चला बुरा न पाया कोय।
जो तन देखा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

जो साधनसम्पन्न बड़भागी पुरुष अपने दोष देखने लगते हैं, उनके दोष मिटते देर नहीं लगती। फिर यदि उनको अपनेमें कहीं जरा-सा भी कोई दोष दीख जाता है तो वे उसे सहन नहीं कर सकते और पुकार उठते हैं कि 'मेरे समान पापी जगतमें दूसरा कोई नहीं है।' एक बार महात्मा गाँधीजीसे किसीने पूछा था कि 'जब सूरदास, तुलसीदास-सरीखे महात्मा अपनेको महापापी बतलाते हैं, तब हमलोग बडे-बडे पाप करनेपर भी अपनेको पापी मानकर सकुचाते नहीं, इसमे क्या कारण है?' महात्माजीने इसके उत्तरमें कहा था कि 'पाप मापनेकी उनकी गज दूसरी थी और हमारी दूसरी है।' सारांश यह कि दूसरोंके दोष तो उनको दीखते नहीं थे और अपना क्षुद्र-सा दोष वे सहन नहीं कर सकते थे। मान लीजिये, भक्त सूरदासजीको कभी क्षणभरके लिये भगवान्‌की विस्मृति हो गयी और जगत्‌का कोई दृश्य मनमें आ गया, बस, इतनेसे ही उनका हृदय व्याकुल होकर पुकार उठा—

> मो सम कौन कुटिल खल कामी।
> जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमक हरामी॥

× × × ×

मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर आत्म-निरीक्षण करता रहे और घंटे-घंटेमें बड़ी सावधानीसे यह देखता रहे कि इतने समयमें मन, वाणी, शरीरसे मेरे द्वारा कितने और कौन-कौन-से दोष बने हैं। और भविष्यमें दोष न बननेके लिये भगवान्‌के बलपर निश्चय करे तथा भगवान्‌से प्रार्थना करे कि वे ऐसा बल दें।

अतएव आपसे मेरा यही विनम्र अनुरोध है कि आप उनके दोषोंको न देखकर गहराईसे अपनी ओर देखिये। सावधानीसे देखिये। आपको इतना तो अवश्य ही दिखायी देगा कि आप उनमें जिन दोषोंको देखकर उनको बुरा व्यक्ति मानते हैं, ठीक वे ही दोष उतनी ही या कुछ न्यूनाधिक मात्रामे आपमें भी मौजूद हैं। ऐसा हो जानेपर आप अपने दोषोंके लिये पश्चात्ताप कीजिये और भगवान्के बलपर उन्हें दूर करनेका पूर्ण प्रयत्न कीजिये। मनुष्यके लिये अपने दोषोंका देखना और उन्हें शीघ्र मिटाना जितना आसान है, उतना दूसरोंके दोषोंको देखना और मिटाना आसान नहीं है। यों आप अपने जीवनको निर्दोष बनाइये और जीवनके परम लक्ष्य श्रीभगवान्के दिव्य गुणोंमें मन, बुद्धिको लगाकर जीवनकी सफलता प्राप्त कीजिये। यही कल्याणका मार्ग है।

---

(५४)

संकुचित स्वार्थ बहुत बुरा है

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप जिस दृष्टिकोणसे अपनी स्वार्थरक्षाका विचार कर रहे हैं, वह यद्यपि आपकी युक्तियोंके अनुसार ठीक हो सकता है, परतु यह दृष्टिकोण वस्तुत. दूषित है। हमारी संस्कृतिमें तो 'समस्त भूत-प्राणियोंको अपना आत्मा समझना', 'सारी दुनियाको अपना कुटुम्ब मानना,' 'अपनी उपमासे सबके सुख-दुःखका अनुभव करना,' 'सबको भगवत्स्वरूप समझकर सबकी सेवा करना' और 'सबका अंश देकर बचा हुआ प्रसादामृत स्वय खाना'—इसीको उत्तम और कर्तव्य

माना गया है । यह तो आजके इस उन्नत माने जानेवाले पतित युगकी महिमा है कि जिसमें कुटुम्बकी परिभाषा केवल अपनी स्त्री तथा छोटे बच्चोंतक ही सीमित हो गयी है । सारा स्वार्थ केवल अपने शरीरकी दृष्टिसे 'मुझे और मेरे' तक ही केन्द्रित हो गया है और इसीमें बुद्धिमानी तथा सन्तुष्टि मानी जा रही है । मानव-जीवनके विशाल दृष्टिकोणको समझनेके लिये स्वार्थकी इस अत्यन्त क्षुद्र सीमाका अतिक्रमण करके बहुत आगे बढ़ना होगा । यह वस्तुत. बड़ा भारी मतिभ्रम है । इससे हमारी अन्तरात्मा कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकती। वह चाहती है—अखण्ड आनन्द और परम शान्ति । पर हम इनको खोज रहे हैं क्षुद्र सीमित स्वार्थके गंदे गड्ढेमें । इसीसे सुखके स्थानपर दुःखोंकी तथा शान्तिके स्थानपर अशान्तिकी परम्परा चल रही है । क्षुद्र कामनाके वशीभूत होकर आज हम परस्वापहरण, क्रोध, द्रोह, असत्य और अन्यायके द्वारा अखण्ड सुख पानेका स्वप्न देख रहे हैं !!

आप निश्चय मानिये—आपके माता-पिता, आपके ताऊ-चाचा, आपके बड़े और छोटे भाई तथा परिवारके अन्य सदस्य—इनमें पराया कोई भी नहीं है । आप इनको कुछ भी न देकर स्वयं ही सारी सम्पत्तिके स्वामी बनना चाहते हैं और इसका धर्म तथा न्यायके द्वारा समर्थन चाहते हैं, यह आपकी बड़ी भूल है । जबतक आप सम्मिलित कुटुम्बमें हैं, तबतक न्यायके अनुसार सभीका हिस्सा है। पैतृक सम्पत्तिमें तो है ही, आपकी कमाईमें भी है । आपको ईमानदारीके साथ कुछ भी न छिपाकर सबका न्याय्य-प्राप्त अंश प्रसन्नताके साथ प्रत्येकको दे देना चाहिये । उचित तो यह है कि आप सम्मिलित कुटुम्बको ही कायम रहने दें और सबको अपनी कमाईमें सदा

हिस्सेदार समझकर सबका भरण-पोषण यथायोग्य करते रहे। क्या आप यह मानते है कि आपकी कमाईमें उनका कोई हाथ नहीं है? यदि ऐसा समझते हैं तो यह आपका मिथ्या गर्व है, जो आपके लिये परिणाममें कभी हितकर नहीं हो सकता। माता-पिताने तो आपको जन्म दिया, पाला-पोसा, पढाया-लिखाया और मनुष्य बनाया। ताऊ तथा चाचेके लिये आप स्वयं कहते हैं कि उनका बर्ताव मेरे साथ बुरा नहीं हुआ। भाई तो घरका सारा काम करते ही हैं। आप दो-चार अक्षर ज्यादा पढ़े हैं और आपकी आमदनी उनसे कुछ ज्यादा है इसीपर आप उन्हें निकम्मा, व्यर्थका खानेवाले और भार-स्वरूप मानने लगे? आप अपने हृदयको विशाल बनाइये। इससे आपको लाभ होगा। अभी जो आपको आशङ्का हो रही है और भविष्यकी बड़ी चिन्ता हो रही है, इसमें प्रधानतया आपके क्षुद्र स्वार्थके विचार ही कारण हैं। सीमित तथा गंदे स्वार्थके द्वारा जो लोग पराजित हो जाते हैं, उनकी यही दशा हुआ करती है। उन्हे पद-पदपर शङ्का-सन्देह होता है। घरवाले सब शत्रु-से दिखायी देते हैं। वे समझते हैं कि ये सब हमें लूट खाना चाहते हैं। ये विचार वस्तुतः बहुत निम्नकोटिके हैं। आपको अखण्ड आनन्द और शान्ति इन विचारोंसे कभी नहीं मिलेगी। सबके हित और सुखके लिये स्वार्थका विस्तार कीजिये। एक अपने कुटुम्बके लिये ही क्यों, समस्त विश्वकी सेवामे आपका तन-मन-धन लगना चाहिये। तभी आप सच्ची शान्ति ओर अखण्ड आनन्दको पा सकेंगे।

आप सुशिक्षित हैं, सब बातोंको समझते हैं, इसलिये आपसे प्रार्थना है कि आप इस विषयपर गहराईसे विचार कीजिये। जरा

दें, सद्बुद्धि दें और इस पापके भयानक फलसे निस्तार दें । [illegible]
ही दृढ़ प्रतिज्ञा कीजिये कि भविष्यमें चाहे कुछ भी हो [illegible],
पाप कभी नहीं करेंगे । विशेष भगवत्कृपा ।

---

(५६)

संकटमें कोई सहायक नहीं होगा

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला ।
समय तो बीता जा ही रहा है । काल हमारी प्रतीक्षा [illegible]
मृत्यु निश्चय ही समीप आ रही है । सच्ची बात तो यह है कि हम-
लोगोंको सब कामोंसे छुट्टी लेकर एक इसी काममें लग जाना चाहिये
सब प्रकारसे सब ओरसे और सारी इच्छा तथा क्रिया-शक्तिको केन्द्रित-
कर । यहाँके ये भोग-वैभव, ये मित्र-बन्धु, ये मान-सम्मान और ये
पद-अधिकार आपके क्या काम आयेंगे ? इनमेंसे न तो कोई [illegible]
[illegible] न मृत्युसे बचा सकेगा और न विपरीत कर्मफलके भोगसे [illegible] ।
[illegible] की पीड़ासे तड़पते-कराहते रहेंगे, कोई आपकी [illegible]
[illegible] कर सकेगा । आप जानते हैं, देख चुके हैं—
[illegible] थे । कितना संकट था उनको । आप [illegible]
प्रकार उनका संकट दूर हो । किसी भी खर्चसे
[illegible] क्या कर सके ? यही परतन्त्र दशा कर्मफल-
[illegible] शरीर सचमुच बहुत दुर्लभ है । यह
[illegible] हुआ है । विषयोंका सेवन तो न मालूम
[illegible] किया जा चुका है । अब इस मनुष्य-
[illegible]—सबको छोड़कर एकमात्र श्रीहरिके

भी लोभ मनमे मत आने दीजिये । यदि आपने लोभके वशीभूत हो उन लोगोंको न्याय्य-स्वत्वसे वञ्चित किया तो वह आपके लिये आत्म-घातसे भी बढ़कर दु.खदायी हो सकता है । दुखी हृदयोंकी हाय मत लीजियेगा । धन न साथ आया है, न साथ जायगा । आपको भी मरना है । सब यही रह जायगा । फिर मनमे बेईमानी करके अपने ऊपर पापका भार क्यों लादना चाहिये ।

(५५)

पापसे घृणा कीजिये

सप्रेम हरिस्मरण । आपने मालिकको मालूम हो जानेके कारण दुराचार छोड़ दिया, यह कोई बहुत आशाकी बात नहीं है । आपके मनमें वेश्या-सङ्गके प्रति घृणा होनी चाहिये । वेश्यागामी लोग स्वयं तो पतित होते ही हैं, वे समाजकी भोली-भाली, सतायी हुई—विपद्मे पड़ी हुई अबलाओंको पापके कीचड़में फँसानेके कारण बनकर महा-पाप करते हैं । आप उस सर्वान्तर्यामी मालिकसे डरिये, जिससे आपकी एक भी बात छिपी नहीं रह सकती । आपके दो साथियोको, जो अभी इस पापमे पड़े हैं, उन्हें भी बचानेका प्रयत्न कीजिये । उन्हें सच्चे मनसे समझाइये, परतु यह नहीं होना चाहिये कि आप भी पुन उसी मार्गमे प्रविष्ट हो जायँ । जबतक आपके मनमे वस्तुत इस कृत्यसे घृणा नहीं होगी और जबतक मालिकोंके मालिक भगवान्का आपको डर नहीं होगा, तबतक ऐसी शङ्का हो ही सकती है । आप भगवान्से प्रार्थना कीजिये कि वे आपको तथा आपके मित्रोंको बल

दें, सद्बुद्धि दें और इस पापके भयानक पङ्कसे निकाल दें। साथ ही दृढ़ प्रतिज्ञा कीजिये कि भविष्यमें चाहे कुछ भी हो जाय, यह पाप कभी नहीं करेंगे। विशेष भगवत्कृपा।

(५६)

संकटमें कोई सहायक नहीं होगा

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। समय तो बीता जा ही रहा है। काल हमारी प्रतीक्षा क्यों करेगा? मृत्यु निश्चय ही समीप आ रही है। सच्ची बात तो यह है कि हम-लोगोंको सब कामोंसे छुट्टी लेकर एक इसी काममें लग जाना चाहिये सब प्रकारसे सब ओरसे और सारी इच्छा तथा क्रिया-शक्तिको बटोर-कर। यहाँके ये भोग-वैभव, ये मित्र-बन्धु, ये मान-सम्मान और ये पद-अधिकार आपके क्या काम आयेंगे? इनमेंसे न तो कोई साथ चलेगा, न मृत्युसे बचा सकेगा और न विपरीत कर्मफलके भोगसे ही। आप संसारकी पीड़ासे तड़पते-कराहते रहेंगे, कोई आपकी तनिक भी सहायता नहीं कर सकेगा। आप जानते हैं, देख चुके हैं—आपके ... बीमार थे। कितना संकट था उनको। आप हृदयसे चाहते थे किसी प्रकार उनका संकट दूर हो। किसी भी खर्चसे हो। पर बताइये, आप क्या कर सके? यही परतन्त्र दशा कर्मफल-भोगमें सबकी है। मानव-शरीर सचमुच बहुत दुर्लभ है। यह भगवद्भजनके लिये ही प्राप्त हुआ है। विषयोंका सेवन तो न मालूम कितनी असंख्य योनियोंमें किया जा चुका है। अब इस मनुष्य-जीवनमें तो सब बातोंको भुलाकर—सबको छोड़कर एकमात्र श्रीहरिके

चरणारविन्द-युगलका ध्यान और उनके पवित्र नामों, गुणों और लीलाओंका श्रवण, कीर्तन और चिन्तन ही करना चाहिये। संसारके भोगोंसे चित्त उपरत हो जाय और भगवान्‌की एकरस अखण्ड मधुर स्मृति हो, ऐसी साधना करनी चाहिये।

आप क्यों भूल रहे हैं, क्यों इस प्रमादमें लगे हैं। अब आपको संसारमे क्या प्राप्त करना है। जो कुछ प्राप्त किया है, उससे आपको वास्तविक सुख-शान्ति मिली है क्या ? फिर अधिक प्राप्त करनेपर क्या होगा ? आप तो लिखते हैं, मेरी सुख-शान्ति घटी है, तब इस सुख-शान्ति घटानेवाले क्षेत्रमें आप क्यो सिर पटक-पटककर परेशान हो रहे हैं। छोड़िये इस झंझटको। मत्त मधुप बनकर लग जाइये भगवान्‌के परम मङ्गलमय परम मधुर चरणारविन्द-मकरन्दके पानमें। भगवान् बडे दयालु हैं, बडे प्रेमी हैं, वे आपके हृदयका भाव ज्यों ही जानेंगे—और उनके जाननेमें देर होती नहीं—त्यों ही आपको अपने नित्य नव दिव्य मधुर सुधारससे आप्लावित कर देंगे। आप निहाल हो जायँगे। मानव-जन्म सार्थक हो जायगा। कृतकृत्य हो जायगा।

(५७)

उपदेशक बननेके पहले योग्यता-सम्पादन करना आवश्यक है

सप्रेम हरिस्मरण! आपका बहुत लम्बा-चौड़ा पत्र मिला। आपके चित्तमें बहुत उत्साह है और आप पढ़ना छोड़कर तथा घरके काम-

काजका भी त्याग कर समाज और देशकी सेवा करना चाहते हैं, एव गाँव-गाँव घूमकर जनताको सदुपदेश देना चाहते हैं। सो यह तो बहुत ही श्रेष्ठ भाव है। जो मनुष्य अपनेको सेवाव्रती बनाना और नि स्वार्थभावसे समाज एवं देशकी सेवा करना चाहता है, वह धन्य है। ऐसा होते हुए भी मेरी रायमें अभी आपको पढ़ना चाहिये तथा घरका काम-काज भी नहीं छोडना चाहिये। आप अभी अल्प-वयस्क हैं और आपकी बुद्धि भी अभी स्थिर नहीं है। आप यह भी स्वीकार करते हैं कि मनमे बहुत बार पापभावना भी आती है। असत्य, कपट तथा काम-क्रोध भी हैं ही। द्वेष-दम्भके कार्य भी आपसे होते हैं तथा भगवान्‌की ओर वैसा आपका आकर्षण भी नहीं है। भजन आपसे बहुत ही कम बनता है। ये सभी बाते आपने लिखी हैं। ऐसी अवस्थामें अभी आपको यह चाहिये कि आप स्वय पहले देश तथा समाजकी सेवा करनेके योग्य बनें। इसके लिये पहले अपनी समुचित सेवा करें। पढ़-लिखकर तथा अपने शास्त्रोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर ऐसी योग्यता प्राप्त कर ले कि जिससे आप शास्त्रानुसार लोगोंको अच्छी-से-अच्छी बात सुन्दर भाषामें और आकर्षक रीतिसे भलीभाँति समझा सकें तथा उनपर अपने भाषणका प्रभाव डाल सकें। इसके साथ ही यह भी परम आवश्यक है कि आप अपने मनकी पापभावनाको समूल नष्ट कर दें, असत्य, कपट तथा काम-क्रोधसे सर्वथा छूट जायँ, द्वेष-दम्भ भी आपमें सर्वथा न रहें भगवान्‌के प्रति आपका सच्चा आकर्षण हो और भगवान्‌के मङ्गलमय भजनमें आपकी असीम अभिरुचि हो। जब ये बातें आपमे आ जायँगी, सचमुच तभी आप सच्चे सेवाव्रती बन सकेंगे, तभी आपके द्वारा देश

तथा समाजकी यथार्थ सेवा होगी एवं तभी आपको किसीके प्रति उपदेशादि देनेका अधिकार प्राप्त होगा । आपने जो 'समाचार-पत्र' निकालनेकी इच्छा प्रकट की है, सो समाचारपत्र निकालकर उसके द्वारा लोगोंको उपदेश देनेका अधिकार भी आपको वस्तुतः तभी प्राप्त होगा ।

दूसरेका सुधार होना—उसकी बुराइयोंका दूर होना आवश्यक है और उसमें हमारेद्वारा जितनी सेवा हो, उतना ही उत्तम है, परंतु दूसरोंकी बुराई वही निकाल सकता है, दूसरोंका सुधार वही कर सकता है, जो स्वयं बुराइयोंसे रहित होकर सर्वथा सुधर गया हो । जनताको उपदेश देकर उनकी सेवा करना बहुत बड़े दायित्वका कार्य है । दूसरेके घरका कूड़ा साफ करना पुण्य है, पर वह कूड़ा हम तभी साफ कर सकेंगे, जब हमारा झाड़ू साफ होगा, झाड़नेकी कला हम जानते होंगे और कौन कूड़ा है तथा कौन किसके लिये कामकी चीज है, इसको भलीभाँति जान सकेंगे । तीनोंमेंसे एक बात भी नहीं होगी, तो किसीका सुधार करने जाकर हम उसका बिगाड़ कर देंगे । हमारे झाड़ूमें यदि गंदा मैला लगा होगा तो हम दूसरोंके घरकी धूल झाडनेके बदले वहाँ गंदा मैला फैला देंगे । झाड़ना नहीं जानते होंगे तो इकट्ठे कूडेको उल्टे इधर-उधर बिखेर आयेंगे और कौन कूड़ा है—इस बातको नहीं जानेंगे तो किसीके बड़े ही कामकी आवश्यक वस्तुको हम कूड़ा समझकर फेंक देंगे और उसकी बड़ी हानि कर देंगे—उसके जीवनकी जड़ ही काट डालेंगे ।

मनुष्यकी वाणीसे तथा क्रियासे वही वस्तु प्रकट होती है, जो उसके हृदयमें होती है । मनुष्य चाहे कितना भी कपट-दम्भ करे,

हृदयका असली भाव किसी-न-किसी क्रियामें प्रकट हो ही जाता है। अतएव जबतक हमारे हृदयमें काम-क्रोध, असत्य-कपट, द्वेष-दम्भ, हिंसा-प्रतिहिंसा, लोभ-मोह, कामना-वासना, अभिमान-अहङ्कार, ममता-माया आदि दोष वर्तमान हैं, जबतक हमारेद्वारा पाप बनते हैं और उनमें हमें रस आता है, तबतक हम दूसरोंको क्या देंगे? ऐसे हृदयको लेकर किसीका सुधार करने जायँगे तो सिवा अपने हृदयकी इस गंदगीको वहाँ भी फैला देनेके और उसका क्या उपकार करेंगे। यदि जनतामें वैसी बुरी बातें पहले न भी रही होंगी तो हमारी वाणी और लेखनीसे निकली हुई बुरी बातें उनमें आ जायँगी, वहाँके वातावरणमें हम एक नया क्षोभ उत्पन्न कर देंगे। जागृति, क्रान्ति, सुधार, अधिकार, उन्नति, शिक्षा, बुद्धिवाद, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और लोकतन्त्र आदि मनोहर नामोंपर हम लोगोंमें द्रोह, द्वेष, कर्तव्यशून्यता, प्रमाद, अश्रद्धा, नास्तिकता, उच्छृङ्खलता, स्वेच्छाचारिता, असंयम, असत्य, स्तेय, अहङ्कार, हिंसा आदि अनेकों दोषोंको बढ़ाकर परस्पर दलबन्दियाँ और उन्हें एक दूसरेको गिरानेके प्रयत्नमें लगाकर उनके लोक-परलोक दोनोंको नष्ट कर देंगे, जैसा कि आजकल न्यूनाधिकरूपमें संसारमें प्राय. सर्वत्र हो रहा है। इसका एक प्रधान कारण यह भी है कि उपदेशकों, पथप्रदर्शकों और नेताओंके पवित्र और दायित्वपूर्ण स्थानोंपर ऐसे लोगोंका अधिकार हो गया है, जो स्वयं असंस्कृत, असंयमी और दायित्वज्ञानशून्य हैं। आजकी हिंसा-प्रतिहिंसामयी ध्वंसकारिणी प्रवृत्ति इसीका कुपरिणाम है! इस प्रकार सुधारके बदले बिगाड़ तो होता ही है—सफाईके बदले गंदा मैला तो फैलता ही है। साथ ही यदि कहीं सचमुच झाड़नेका काम किया जाता भी है तो वहाँ झाड़ना न

जाननेसे जैसे कूड़ा इधर-उधर बिखर जाता है, वैसे ही एक या कुछ थोड़ेसे लोगोंमें रही हुई परिमित बुराई समाजभरमें फैल जाती है। चौबेजीको छब्बेजी न बनकर दूबेजी बननेको वाध्य होना पडता है। इसके अतिरिक्त ऐसे उपदेशकों और सुधारकोंके द्वारा अविवेकवश सुधारके नामपर समाजमें विस्तृत अमृतवल्लीपर ही भयानक विषसिञ्चन या उनके जीवनके मूलपर ही कुठाराघात किया जाता है। भगवद्भजन, देवपूजाराधना, शास्त्रीय आचरण, वर्णाश्रमधर्म, शौचाचार, सदाचार, संयम, मातृ-पितृ-भक्ति, पातिव्रतधर्म, ब्राह्मणमहत्ता, सात्त्विक यज्ञ-दानादि, सन्ध्यावन्दन, शास्त्रीय भेद, नियमानुवर्तिता एवं वंशपरम्परागत पवित्र सुप्रथाओं आदिका विरोध और ऐसे पवित्र कार्योंके प्रति लोगोंमें अश्रद्धा उत्पन्न करानेकी चेष्टा—इसी प्रकारके जीवनमूलका उच्छेद करनेवाले कुकार्य हैं, जो विपरीत शिक्षा और उच्छृङ्खल उपदेशादिके फलस्वरूप बड़े गर्व एवं उल्लासके साथ किये जाते हैं! इस प्रकार जनताको, खास करके अपक्वबुद्धि सरलहृदय बालकों, नवयुवकों और नवयुवतियोंको उभाडकर सदाचारके विरुद्ध खड़े कर देना सुधारके नामपर कितना बडा बिगाड़ है, संस्कारके नामपर कितना भयानक संहार है! इसपर आप विचार करें।

अतएव प्रत्येक मनुष्यको आत्मसुधारके लिये प्रयत्न करना चाहिये। उन लोगोंको तो विशेषरूपसे करना चाहिये, जो समाज और देशकी सेवा करना चाहते हैं। वाणीसे या लेखनीसे वह कार्य नहीं होता, जो स्वयं वैसा ही कार्य करके आदर्श उपस्थित करनेसे होता है। यहाँतक कि फिर उपदेशकी भी आवश्यकता नहीं होती। महापुरुषोंके आचरण ही सबके लिये आदर्श और अनुकरणीय होते हैं। इसीलिये

महापुरुषोंको यह ध्यान भी रखना पड़ता है कि उनके द्वारा ऐसा कोई कार्य न हो जाय, जो नासमझीके कारण जगत्‌के लिये हानिकर हो। इसलिये वे उन्हीं निर्दोष कर्मोंको करते हैं, जो उनके लिये आवश्यक न होनेपर भी जगत्‌के लिये आदर्शरूप होते हैं और करते भी इस प्रकारसे हैं, जिनका लोग सहज ही अनुकरण करके लाभ उठा सकें। स्वयं सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे गीतामें इसी दृष्टिसे कहा है—

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
> न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
> नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
> यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
> मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
> उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
> संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
> (३। २१—२४)

'श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह अपने आचरणसे जो कुछ प्रमाण कर देते हैं—जैसा आदर्श उपस्थित करते हैं, सारा जनसमुदाय उसीका अनुकरण करने लगता है। अर्जुन! मेरे लिये तीनों लोकोंमें कोई भी कर्तव्य शेष नहीं है और न कोई ऐसी वस्तु ही है जिसे मुझको प्राप्त करना हो, एवं जो मुझे प्राप्त न हो, ऐसा आप्तकाम एवं पूर्णकाम होनेपर भी मैं कर्माचरण करता हूँ। यदि कदाचित् मैं

सजग रहकर (जगत्‌को लाभ पहुँचानेवाले) कर्मोंका आचरण न करूँ तो बहुत बड़ी हानि हो जाय, क्योंकि भैया अर्जुन ! लोग तो मुझे श्रेष्ठ मानकर मेरे पीछे-पीछे ही चलते हैं । मेरे कर्म न करनेका फल यह हो कि सब लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका उत्पन्न करनेवाला और इस सारी प्रजाका उच्छेद करनेवाला बनूँ ।'

इससे पता लगता है कि अपनेको श्रेष्ठ माननेवाले अगुआ पुरुष-पर कितना बड़ा दायित्व है और उसे अपने दायित्वका निर्वाह करनेके लिये कितनी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये, एवं किस प्रकारसे स्वयं आचरण करके लोगोंके सामने पवित्र आदर्श उपस्थित करना चाहिये ।

फिर, एक बात यह भी है कि व्यक्तियोंके समूहको लेकर ही समाज बनता है । यदि एक व्यक्ति यथार्थरूपमें सुधर गया तो समाज-का एक अङ्ग सुधर गया । यों सभी व्यक्ति अपना-अपना सुधार करने लगें तो सारा समाज अपने-आप सुधर जाय । एवं यदि इसके विपरीत सभी लोग दूसरोंका सुधार करनेमें लग जायँ और अपने सुधारकी ओर ध्यान ही न दें तो किसीका भी सुधार न हो ।

इसलिये मेरा आपसे यही निवेदन है कि आप दूसरोंके लिये उपदेशक बननेकी लालसाको दबाकर पहले अपनेमें योग्यता बढ़ावें, एवं अपने जीवनको परम विशुद्ध और भगवान्‌की सेवाके परायण बना दें । फिर आपके द्वारा जो कुछ होगा, सब विश्वकी सेवा ही होगी । विश्वकी सच्ची सेवा वही कर सकता है, जिसका जीवन विश्वात्मा भगवान्‌के अनुकूल होता है और जो अपनेको विश्वम्भरकी सेवामें समर्पित कर देता है ।

(९) भगवान्के लिये विश्वासपूर्वक सब कुछ त्याग कर और एक लक्ष्य होकर साधनामें सलग्न है ।

(१०) भगवान्की अप्राप्ति असह्य है । क्षणभर भी चैन नहीं पड़ती, सब कुछ करनेको तैयार है । उसीमे लगा है ।

(११) भगवान्का भजन अत्यन्त प्रेम और निष्कामभावसे करता है । भजनके लिये ही भजन करता है । भगवान् जब जो करें, उसीमें आनन्दका अनुभव करता है ।

इनमें उत्तरोत्तर ऊँची श्रेणीकी कल्पना की गयी है । वस्तुत भगवत्प्राप्तिका कोई समय निश्चित नहीं है । साधनकी तीव्रता, विश्वासकी दृढता, प्राप्तिकी उत्कट इच्छा, भगवान्की इच्छापर सन्तोष, भजनकी अखण्डता, विशुद्ध प्रेम और निष्कामभाव आदिके तारतम्यसे शीघ्रता या विलम्ब हो सकता है । भगवान् ऐसी वस्तु नहीं हैं, जिनकी प्राप्तिके लिये कोई निश्चित समय तथा साधनकी अवधि हो । वे एक क्षणमें मिल सकते हैं और अनन्त जन्मोंतक भी नहीं । साधकके भावानुसार ही समयकी देर-सबेर होती है । मानसमें भगवान् शकरजीके वचन हैं--

हरि व्यापक सर्बत्र समाना । प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥

तन्त्र (काली-तन्त्र और शिवसहिता आदि) में मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्रतम भेदसे चार प्रकारके साधक बतलाये गये हैं । वहाँ सिद्धि-प्राप्तिके समयका भी उल्लेख है, पर यह सिद्धि अन्य प्रकारकी भी हो सकती है तथा भाव एवं इच्छाकी उत्कटताके अनुसार समयकी अवधिमे परिवर्तन भी हो सकता है । इनके लक्षण ये हैं--

मृदु-साधक—बहुत मन्द उत्साहवाला, प्रतिभाहीन, रोगी, गुरुनिन्दक, लोभी, दुष्कर्मा, अधिक खानेवाला, स्त्रीके अधीन, चञ्चलचित्त, परिश्रमसे बचनेवाला, पराधीन, निर्दयी, पापपरायण और अल्पवीर्य। ऐसा साधक 'मृदु-साधक' कहलाता है। यह बारह वर्ष लगातार विशेष यत्नके साथ साधन करनेपर उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ सिद्धिलाभ करता है।

मध्य-साधक—सर्वत्र समबुद्धि, क्षमाशील, पुण्याभिलाषी, प्रिय बोलनेवाला, जितेन्द्रिय, गुरु-शास्त्रमें श्रद्धालु, सभी कामोंमे मध्यरूपसे चतुर और किसी भी कार्यमें पूरा लिप्त नहीं। ऐसा साधक 'मध्य-साधक' कहलाता है और लगातार साधनामे लगे रहनेसे इसे नौ वर्षमें सिद्धि प्राप्त होती है।

अधिमात्र-साधक—स्थिरबुद्धि, मनोलयके साधनमें लगा हुआ, स्वाधीन, वीर्यशाली, महाशय, दयाशील, क्षमावान्, सत्यनिष्ठ, शौर्य-सम्पन्न, गुरुसेवापरायण, साधनमे नियमितरूपसे पूर्णतया लगा हुआ और महान् बुद्धिमान्। ऐसे साधकको 'अधिमात्र-साधक' कहते हैं और यह लगातार साधनमें लगा रहनेसे छ: वर्षमे सिद्धि-लाभ करता है।

अधिमात्रतम-साधक—महान् बलवान्, महान् उत्साही, मनोज्ञ, महान् शौर्यशाली, शास्त्रका ज्ञाता, अभ्यासपरायण, मोहरहित, व्याकुलतारहित, युवक, मिताहारी, जितेन्द्रिय, विशुद्ध आचरणवाला, सुदक्ष, दाता, सबके प्रति अनुकूल, अधिकारी, स्थिरचित्त, धीमान्, शरणागतपालक, सदा सन्तुष्ट, यथेच्छ स्थानमें स्थित, क्षमाशील, निर्भीक, सुशील, धर्मपरायण, गुप्तरूपसे निरन्तर साधनमें लगा हुआ, प्रियवादी,

शान्त, परम विश्वासी, सत्यवादी, देवगुरुपूजन-परायण, लोकसङ्गसे विरक्त, व्याधिरहित, सर्वसाधनविषयोंमें आगे बढ़ा हुआ और परोक्षज्ञानी। ऐसे साधकको 'अधिमात्रतम-साधक' कहते हैं। ऐसा अधिकारी लगातार साधन करे तो तीन ही वर्षमें सिद्धि पा जाता है।

इन सबमें विश्वास और श्रद्धा ही सबका मूल है। श्रद्धाके साथ साधनरूप क्रिया की जाय तो समयपर सिद्धिकी प्राप्ति होती ही है—

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः॥

'न तो कपड़े रँगनेसे सिद्धि होती है, न बहुत बात बनानेसे ही। साधनरूप क्रिया ही सिद्धिका असली कारण है—इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।'

असलमें ऊँचा साधक वही है, जो या तो सर्वथा और सर्वतोभावसे अपनेको भगवान्‌पर छोड़ दे और निरन्तर नये-नये उत्साहसे भजनमें लगा रहे। या जिसकी अनन्य उत्कण्ठा भक्त वृत्रासुरके कथनानुसार इस प्रकारसे बढ़ जाय—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भा० ६। ११। २५-२६)

'मैं तुम्हें छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्माका पद, सार्वभौमपद, पातालका आधिपत्य, योगकी सिद्धियाँ और पुनर्जन्मरहित मोक्षपदकी भी इच्छा नहीं करता । कमलनयन ! जैसे बिना पङ्खके पक्षियोंके बच्चे अपनी माके लिये, जैसे भूखसे पीड़ित छोटे बछड़े अपनी माता गौका स्तन पीनेके लिये और जैसे पतिव्रता स्त्री अपने परदेश गये हुए पतिसे मिलनेके लिये व्याकुल रहती है, वैसे ही मेरा मन तुम्हें देखनेके लिये व्याकुल है ।'

---

(५९)

परमार्थके साधन

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । पत्र मिला । कुछ कारणसे उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ है, कृपया क्षमा करेंगे । आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

१ भगवत्प्राप्तिका सबसे अच्छा उपाय है—भगवान्‌के प्रति प्रगाढ़ प्रेम, भगवान्‌से मिलनेकी प्रबल तीव्र उत्कण्ठा और भगवान्‌के विरहमें एक क्षण भी जीवन-धारण असह्य हो जाना । वास्तवमें यह कोई साधन नहीं है, यह तो भगवद्विरहीका लक्षण है । करोड़ों वर्षोंकी तपस्याके मूल्यपर भी सच्चिदानन्दमय भगवान्‌के श्रीविग्रहकी क्षणिक झाँकीतक नहीं मिल सकती । कोई भी पुण्य, जप, तप, दान अथवा यज्ञ ऐसा नहीं है, जो भगवान्‌को दर्शन देनेके लिये विवश कर सके । भगवान्‌का दर्शन तो भगवान्‌की कृपासे ही होता है—'सो जानइ जेहि देहु जनाई' । उनका दर्शन वही कर सकता है, जिसके सामने

वे अपनी योगमायाका परदा हटाकर प्रकट हो जायँ। उनको कहींसे आना-जाना नहीं पडता। वे तो सदा और सर्वत्र विराजमान हैं; किंतु हैं योगमाया-समावृत। जिसपर उनकी विशेष कृपा होती है, उसीको उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त होता है। जिसे प्रभु देखते हैं कि यह मेरे दर्शनके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, उसे अधिकारी मानकर तत्काल उसके सामने प्रकट हो जाते हैं। अतः उनका दर्शन कितने दिनोमे होगा ?—यह प्रश्न ही नहीं बन सकता। उनका दर्शन एक क्षगमें भी हो सकना है और कोटि-कोटि जन्मोंमें भी नहीं हो सकता। दर्शन तो उनकी दयासे ही होता है। हाँ, अपनेको प्रभुकी कृपाका पात्र बनानेके लिये योग्य साधन करते रहना मनुष्यका परम कर्तव्य है। उनमे निरन्तर प्रेम बढ़े, मिलनेकी तीव्रतम इच्छा जाग्रत् हो और एक क्षणका भी विरह असह्य हो जाय,—ऐसी अवस्था अपने जीवनमे लानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

२-३. अभी आपकी अवस्था नयी है, घरपर पूर्णरूपसे भजन नहीं हो पाता, इसलिये आप घरसे निकलकर वृन्दावनमें रहकर भजन करना चाहते हैं। भजनकी इच्छाका होना तो बहुत ही उत्तम है; किंतु आजकलके समयमें घर छोडकर जानेकी सलाह तो मैं कभी नहीं दे सकता। घरमें जो घरका और दूकानका काम आपको करना पड़ता है, वह किसका काम है ? क्या उसे आप भगवान्‌का काम नहीं समझते ? क्या वह ससारका काम है ? ऐसी भूल न कीजिये। घरके, आपके तथा सम्पूर्ण जगत्‌के सच्चे स्वामी भगवान् हैं। सब काम उन्हींका है। अतः उन्हींको स्वामी और अपनेको सेवक मानकर झूठ, कपट, चोरी आदि बुरी वृत्तियोंसे बचते हुए यदि घर

और दूकानका काम सँभाला जाय तो यह भी भगवान्का भजन ही है। यही सर्वकर्मसे भगवान्की पूजा समझनी चाहिये। घरसे बाहर जानेपर भी आदमी प्रमादमें पड़कर साधनसे गिर जाता है। अभी आपको बाहरकी कठिनाइयोंका अनुभव नहीं है, अत. घरपर ही रहकर भजन-साधनका अभ्यास बढ़ाइये और भगवान्का काम समझकर घरके कामोंको भी उत्साहके साथ कीजिये।

४. सुनने और किताबोंको देखनेसे जो आपको माळूम हुआ कि किसी मन्दिरमें जाकर भगवान्के चरणोंमें गिर जाने और 'जबतक भगवान् दर्शन न देंगे, तबतक हम नहीं उठेंगे' यह व्रत लेकर खाना-पीना छोड़कर पड़े रहनेसे भगवान् जल्दी दर्शन देते हैं सो मेरी समझसे ऐसा करना कदापि युक्तियुक्त नहीं है। इसमें कई तरहके दोष आ सकते हैं। सबसे अच्छा उपाय तो है—प्रभुकृपाकी बाट जोहते हुए उनके लिये उत्कण्ठित रहना, अपनेको सर्वथा एकमात्र भगवान्की कृपापर छोड़ देना। फिर भगवान् स्वयं ही अवसर देखकर हृदयसे लगा लेंगे। खान-पान छोड़नेमें महत्त्व नहीं है, महत्त्व तो भगवान्की अनिवार्य आवश्यकता होनेमें और उनकी कृपापर अडिग विश्वास करनेमें है।

५. आपने अपने मनकी जो दशा लिखी है वही प्रायः मनुष्यमात्रके मनकी स्थिति है। मन संसारमें अधिक रमता है और भगवान्में कम। उसे अधिकाधिक भगवान्की ओर लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये। ऐसे अव्यवस्थित मनको लेकर भगवान्के मन्दिरमें धरना देना तो बिल्कुल नादानी ही है।

६. कलियुगमें अन्य युगोंकी अपेक्षा जल्दी और सुगम साधन-

से ही भगवान् दर्शन दे देते हैं, यह बात बिल्कुल ठीक है। सत्ययुगमें हजारों वर्षोंतक ध्यान, त्रेतामें कितने ही वर्षोंतक यज्ञ तथा द्वापरमें सुदीर्घ कालतक पूजा-अर्चा करनेसे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवान्‌के नामोंका कीर्तन करनेसे मिल जाता है। (कलौ तद्धरिकीर्तनात्)।

७ आपने यह ठीक ही सुना है कि पापी-से-पापी मनुष्य भी यदि भगवान्‌की शरणमें चला जाय तो उसे भगवान् शीघ्र ही अपना लेते हैं। स्वय भगवान् गीतामें कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
(९। ३०-३१)

अर्थात् 'कोई कितना ही बड़ा दुराचारी क्यों न हो, जो सबका भरोसा छोड़कर अनन्यभावसे मेरा भजन करने लगता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि अब उसने उत्तम व्रत लिया है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सनातन शान्तिको प्राप्त कर लेता है।' सनातन शान्तिका अर्थ है—भगवान्‌की प्राप्ति।

जो भगवान्‌की शरणमे जाता है, उसकी अहंता और ममता-का त्याग हो जाता है। उसके लिये 'मैं' और 'मेरा' कुछ नहीं रहता। उसका 'मै' पन और 'मेरा' पन सब कुछ भगवान्‌के चरणों-में समर्पित हो जाता है। वह तो भगवान्‌के हाथका यन्त्र बन जाता है। भगवान् जैसे रक्खें, रहना है; जो करावें, करना है। उसकी प्रत्येक-चेष्टा भगवान्‌की प्रीतिके लिये होती है। अतः बुरे कर्मोंकी

ओरसे उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक ही हट जाती है। उसे तो वे ही कर्म भाते हैं, जिनसे भगवान्‌को प्रसन्नता हो। सुख हो या दुःख, उसे भगवान्‌का प्रसाद मानकर वह सहर्ष शिरोधार्य करता है। उसे अपने लिये कोई चिन्ता नहीं होती। वह तो अपनेको भगवान्‌की छत्रच्छायामें डालकर पूर्णत निश्चिन्त एवं निर्भय हो जाता है। उसे अपने किसी अभावका भान ही नहीं रहता। उसके मन, प्राण, शरीर, अन्तःकरण सबके लक्ष्य एक भगवान् ही होते हैं। वह उन्हींको देखता, उन्हींकी बातें सुनता और उन्हींका निरन्तर चिन्तन करता हुआ मस्त रहता है। ऐसे शरणागत भक्तके योगक्षेमका भार स्वयं भगवान् ही वहन करते हैं। यदि भगवान्‌की मधुर स्मृतिमें प्रेमावेश होनेपर उसे खाना-पीना भूल जाय तो उसको खिलाने-पिलानेकी चिन्ता भी भगवान्‌को ही करनी पड़ती है—जिमि बालकहिं राख महतारी।

---

(६०)

सच्चे साधकके लिये निराशाका कोई कारण नहीं

प्रिय महोदय! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। 'आप सच्चे हृदयसे यथासाध्य साधन करते हैं, नियमित स्वाध्याय करते हैं, जहाँतक बनता है भगवान्‌को याद रखनेकी और निषिद्ध कर्मोंसे तन-मन-वचनसे बचनेकी चेष्टा करते हैं, तो भी अभीतक आपकी, आप जैसी चाहते हैं, वैसी स्थिति नहीं हुई है, इससे कभी-कभी निराशा-सी हो जाती है'—सो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। साधकके जीवनमें ऐसे बहुत-से अवसर आते हैं, जब उसे निराशाका सामना

करना पड़ता है, पर वास्तवमें आपको जरा भी निराश नहीं होना चाहिये। अर्जुनने जिस क्षण भगवान्‌की शरणागति स्वीकार की थी, 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहा था और गीताके अन्तमें 'करिष्ये वचनं तव' कहकर भगवान्‌का आदेश पालन करनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसी क्षण उनकी विजय हो चुकी थी। तथापि उन्हें बड़े-बड़े महारथियोंसे अठारह दिनोंतक भयङ्कर युद्ध करना पड़ा। बीच-बीचमें कई बार पराजयका-सा प्रसङ्ग आया, निराशाकी घड़ियाँ आयीं, पर वे सब विजयके साधनमात्र थे। इसी प्रकार साधकके जीवनमें जो अपने प्राचीन स्वभावसे लड़ते-लड़ते कभी-कभी थकान मालूम होती है—निराशा-सी होती है, वह तो उसकी सफलताके चिह्न हैं। उनसे जरा भी डरना या घबराना नहीं चाहिये। प्रत्युत ऐसी स्थितिमें भगवान्‌के बलपर अपनी सफलताका और भी दृढ़ निश्चय करना चाहिये तथा साधनको और भी प्रबल बनाना चाहिये। अमावस्याकी चार प्रहरकी रात्रि बीत जानेपर भी समीप घड़ी न होनेकी अवस्थामें अन्धकार ज्यों-का-त्यों प्रतीत होता है। इससे भूलसे ऐसा मानकर निराशा हो सकती है कि 'अमावस्याकी रात्रि तो वैसी-की-वैसी ही बनी है, पता नहीं इसका अन्धकार कभी मिटेगा या नहीं।' परंतु वस्तुस्थिति तो यह है कि अब प्रकाशमें बहुत ही थोड़ा-सा समय अवशेष रह गया है। सूर्योदय होते ही अमावस्याका घोर अन्धकार जादूके घरकी तरह अकस्मात् विलीन हो जायगा। उसका पता भी नहीं लगेगा। प्रभातके प्रकाशसे सभी दिशाएँ प्रफुल्लित हो उठेंगी। इसी प्रकार जब आपके साधनका परिणाम सहसा प्रकट होगा, तब आपका भी रोम-रोम खिल उठेगा। आपको अपूर्व आनन्द

होगा । जो साधक भगवत्कृपाका आश्रय लेकर सचाईके साथ साधनमें संलग्न है और अपनी शक्तिभर साधन करनेमें प्रमाद नहीं करता, आप सत्य मानिये, उसकी अमावस्याकी रात्रि लगातार कट रही है, चाहे वह उसे दिखायी न दे ।

अतएव आप जरा भी निराश न होइये । जो एक बार भी भगवान्‌के शरण हो गया है, उसके लिये कोषसे निराशाका शब्द ही निकल गया है । यह निश्चय मानिये । विशेष भगवत्कृपा ।
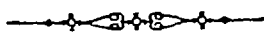
(६१)

श्रेष्ठ साध्यके लिये श्रेष्ठ साधन ही आवश्यक है

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला । आपने लिखा कि 'एक आदमी चाहता है कि मैं बहुत धन कमाकर उसके द्वारा लोकसेवा तथा भगवत्सेवाके पवित्र कार्य करूँ, परंतु धन कमानेमें असत्य, छल, कपट, चोरी, हिंसा, दूसरोंका स्वत्वहरण और बही-खातोंमें झूठा जमा-खर्च आदि करने पड़ते हैं । इनके बिना काम ही नहीं चलता । ये न किये जायँ तो आजकल सीधे उपायसे धन आना असम्भव है और धनके न होनेपर लोकसेवा तथा भगवत्सेवाके कार्य नहीं हो सकते । ऐसी अवस्थामें क्या करना चाहिये ? क्या श्रेष्ठ उद्देश्यकी सिद्धिके लिये इस प्रकारके अनिवार्य दोषोंका स्वीकार करना पाप है ? जब साध्य उत्तम है, कर्ताका भाव शुद्ध है और उसकी नीयत अच्छी है, तब फिर साधन यदि निकृष्ट भी हों तो क्या हानि है ? भगवत्प्राप्तिके लिये यदि कभी निषिद्ध कर्म भी करने पड़ें तो क्या वह कोई बुरी बात है ?'

इसका सीधा उत्तर यह है कि फल वही होता है, जिसका बीज होता है। जब साधन निकृष्ट है, तब साध्य श्रेष्ठ कहाँसे आयेगा? एक आदमीका सर्वथा शुद्ध उद्देश्य है कि मुझको आम मिले, उसका भाव भी यही है और नीयत भी अच्छी है; पर वह बोता है आकके बीज, तो बताइये उसे आम कहाँसे मिलेंगे। इसी प्रकार नीयत, उद्देश्य और भाव कुछ भी हो—झूठ, कपट, छल, चोरी और हिंसा आदि साधनोंसे सच्ची लोकसेवा और भगवत्सेवारूपी परिणाम कभी नहीं हो सकता। बुरेका अच्छा फल होगा, यह तो अज्ञानविमोहित आसुरी भाववालोंकी मान्यता है। वे कहते हैं—

> इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
> इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
> असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
> ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥
> आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
> यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
> (१६। १३–१५)

'आज यह कमाया, कल वह कमाऊँगा। मेरे पास इतना धन तो हो गया है, फिर और भी हो जायगा। मेरे उस शत्रु (एक मार्गके रोडे) को तो मारकर हटा दिया गया है, शेष दूसरोंको भी मार दूँगा। मैं सत्ताधीश—ईश्वर हूँ, मैं भोगमें समर्थ हूँ, मैं सफलताओंका केन्द्र हूँ, मैं बलवान् हूँ और सुखी हूँ। मैं धनी हूँ, मैं जनवान् हूँ—जनता मेरे पीछे चलती है, मेरे समान दूसरा है कौन? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आनन्द लूटूँगा, (भगवान् कहते हैं) वे इस प्रकारके अज्ञानसे विमोहित हैं।'

बुरेका फल अच्छा कभी हो नहीं सकता । श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—'साधन सिद्धि राम पग नेहू ।' भगवच्चरणोंमें प्रेम ही साधन है और वही साध्य है । वस्तुत साधनके स्वरूपपर ही साध्यका स्वरूप निर्भर करता है । इसलिये मनमे किसी भी साध्य-की कल्पना हो, साधकको तो पहले साधनकी श्रेष्ठता ही देखनी है । अतएव 'साध्य उत्तम हो तो साधन निकृष्ट होनेपर भी कोई हानि नहीं है' ऐसा मानना भ्रमपूर्ण है ।

धनके द्वारा लोक-सेवा और भगवत्सेवाकी भावना उत्तम है । (यद्यपि केवल धनके द्वारा सेवा बनती नहीं, उसके लिये तो सेवाके योग्य मन चाहिये) परन्तु इसका क्या निश्चय है कि मनुष्य अपने इच्छानुसार धन कमा ही लेगा । सम्भव है, जीवनभर जीतोड़ प्रयत्न करनेपर भी धन न मिले । कदाचित् मिल भी गया तो फिर यह कौन कह सकता है कि उस समय लोक-सेवा और भगवत्सेवाकी विशुद्ध भावना बनी ही रहेगी । सच्ची और युक्तिसङ्गत बात तो यह है कि असत्य, चोरी, छल, कपट, हिंसा आदि दुष्ट साधनोंमें लगे रहनेसे चित्तकी अशुद्धि बढ़ जायगी और अशुद्ध चित्तमें शुद्ध भावनाओंका टिकना सम्भव नहीं है । अतएव लोक-सेवा और भगवत्सेवा नहीं बन सकेगी । लोक-सेवा और भगवत्सेवाके नामपर कहीं कोई दम्भ भले ही बन जाय । हाँ, एक फल अवश्य होगा । जीवनभर दूषित कर्मोंमें लगे रहनेसे पापोंकी वृद्धि होगी । दूषित संस्कारोंके कारण अन्तकालमें बुरी वस्तुका चिन्तन होगा और परिणामस्वरूप बुरी गति अवश्य प्राप्त होगी !

अवश्य ही कुछ समझदार लोग भी ऐसा मानते हैं कि 'साध्य उत्तम है तो फिर साधन कैसा भी क्यों न हो। हमें तो साध्यको प्राप्त करना है, फिर चाहे वह किसी भी साधनसे हो।' पर यह बड़ी भूल है। जैसा साधन होगा, वैसा ही साध्य बनेगा और जैसा साध्य होगा, वैसा ही साधन होगा। यदि किसीका साधन निकृष्ट है तो सच मानना चाहिये कि उसका साध्य भी श्रेष्ठ नहीं है, भले ही वह भूलसे, धोखेसे या दम्भसे अपने साध्यको श्रेष्ठ कहता हो। चोरी करके साधु-सेवा करना, अतिथि-सत्कारके लिये व्यभिचार करना, भगवान्‌की पूजाके लिये द्वेषपूर्वक हिंसा करना, वैर और क्रोधके द्वारा धर्मकी रक्षा करना, दम्भ करके भगवान्‌को प्रसन्न करना और आत्महत्या करके भगवान्‌को पा लेना आदि कुछ ऐसी बातें हैं, जो यदि किसी विशेष परिस्थितिमें विशेष व्यक्तियोंद्वारा हुई भी हों, तो भी वे आदर्श नहीं हैं। वे अपवाद हैं, नियम कदापि नहीं। नियम तो यही है कि साधन उत्तम होगा, तभी साध्य उत्तम होगा।

फिर जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे तो श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ उद्देश्यकी सिद्धिके लिये भी नीच कर्मको कदापि स्वीकार नहीं करेंगे। भगवान्‌से मिलना अवश्य है, भगवत्प्रेम अवश्य चाहिये, पर वह चाहिये भगवान्‌के अनुकूल परम श्रेष्ठ शास्त्रीय साधनोंके द्वारा ही। निषिद्ध कर्मके द्वारा कहीं भगवान् या भगवत्प्रेम मिलना भी हो तो श्रेष्ठ पुरुष उसे स्वीकार नहीं कर सकते। इसीलिये प्रेमी भक्त अपने भगवान्‌से यहाँतक कह दिया करते हैं कि 'भगवन्! हमें तो तुम्हारा भजन प्यारा है। यदि तुम्हारी प्राप्ति हो जानेपर तुम्हारा भजन छूटता हो तो हम ऐसी प्राप्ति नहीं चाहते। हमें चाहे जहाँ, चाहे जैसी परिस्थितिमें रहना

पड़े, पर तुम्हारा प्रेमपूरित भजन कभी न छूटे। हमें सुगति, सुमति, सम्पत्ति, ऋद्धि-सिद्धि और विशाल कीर्ति नहीं चाहिये। हमारा तो बस, तुम्हारे युगलचरणकमलोंमें नित नया अनुराग ही बढ़ता रहे—

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतुरहित अनुराग रामपद बढ़ु अनुदिन अधिकाई॥

गोस्वामीजीने दोहावलीमें कह दिया है कि मुझे नरकमें रहना स्वीकार है, यदि राम-प्रेमका फल अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष हो तो इन चारों पुरुषार्थ-शिशुओंको मौत डाकिनी खा जाय। मुझे तो केवल 'रामप्रेम' चाहिये। यदि रामप्रेमका और कोई फल भी होता हो तो उसमें आग लग जाय—

परौं नरक फल चारि सिसु मीच डाकिनी खाउ।
'तुलसी' राम-सनेहको जो फल सो जरि जाउ॥
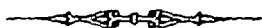
(६२)

साधनका फल

सादर हरिस्मरण! पत्र मिला था, उत्तर नहीं लिखा जा सका, क्षमा करें। आप चाहती हैं कि 'मेरा मन भगवान्‌के श्रीचरणोंके सिवा और कहीं न लगे, पर ऐसा नहीं होता है। आप मनको जितना ही जीतना चाहती हैं, उतना ही वह दूर भागता है।' सो आपकी यह चाह बहुत ही सराहनीय है। यह चाह ही बढ़ते-बढ़ते जिस दिन अनन्य 'आवश्यकता' बन जायगी—अर्थात् भगवान्‌के श्रीचरणोंके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं सुहायेगा, एक क्षणकी भी भगवान्‌की विस्मृति आपके हृदयमें व्याकुलता उत्पन्न कर देगी,

उसी क्षण आप भगवान्‌के श्रीचरणोंको सदाके लिये प्राप्त करके निहाल हो जायँगी । नाम-जप, प्रार्थना—जो कुछ करती हैं, करती रहें । ऐसा सन्देह न करें कि प्रभु नहीं सुनते हैं या इसका कोई फल नहीं हो रहा है । आपका भगवान्‌के लिये दिया हुआ एक भी क्षण व्यर्थ नहीं जा रहा है । अभी वह फल प्रकट नहीं हो रहा है । जिस दिन अकस्मात् वह प्रकट होगा, उस दिन आपको बड़ा आश्चर्य होगा और महान् आनन्द भी । अन्धकार प्रात कालसे कुछ पूर्वतक रहता है, परंतु सूर्योदय होते ही अन्धकारका एक साथ नाश हो जाता है । एक घड़ी पहलेतक जो अन्धकार दिखायी देता था, ऐसा माल्म होता था मानो यह अन्धकार मिट ही नहीं रहा है, जाने कब मिटेगा, वही इतना मिट जाता है कि सूर्यके सामने कही खोजनेपर भी उसका पता नहीं लगता । यह सूर्योदयकी मङ्गल-बेला ज्यों-ज्यों रात बीत रही थी, त्यों-ही-त्यो समीप आ रही थी, परतु थोड़ी-सी रात रहते उसका पता नहीं लग रहा था । इसी प्रकार भगवान्‌के श्रीचरणोको प्राप्त करनेकी इच्छाके साथ जो भगवद्भजन, प्रार्थना, स्तवन, ध्यान आदि किये जाते हैं, उनका प्रत्यक्ष फल न दिखायी देनेपर भी वे भगवान्‌के समीप ले जा रहे हैं । पता नहीं, आपकी कितनी रात कट चुकी है और अकस्मात् वह मङ्गलमय प्रभात कब होनेवाला है, जब आप भगवच्चरणारविन्दको प्राप्त कर लें । पर विश्वास रखिये, भगवान् सब सुन-देख रहे हैं । आपका काम भी हो रहा है । आप प्रेम तथा विश्वासपूर्वक उत्तरोत्तर भजन बढ़ाती रहें । तनिक भी निराशाको मनमें स्थान न दें ।

---

(६३)

शान्ति कैसे मिले ?

सादर हरिस्मरण । आपका कृपापत्र यथासमय मिल गया था । उत्तरमें देरी हुई, कृपया क्षमा करें ।

आपने अपनी जैसी स्थिति लिखी है, उस अवस्थामें आजकल अधिकांश व्यवसायी और नवयुवक दिखायी देते हैं । यह प्रसन्नता-की बात है कि आपको अपनी इस प्रमादपूर्ण प्रवृत्तिसे असन्तोष है । जिसपर भगवान्की विशेष कृपा होती है और जिसके अन्त -करणके शुभ संस्कार एकदम दब नहीं जाते, उस बडभागीको ही अपने दोषोंका ज्ञान होता है । अत आपका यह असन्तोष तो आपके लिये बडे हितकी बात है ।

आप लिखते हैं कि 'मैं अपने लिये भी झूठसे कुछ बचा लेता हूँ तथापि मुझे शान्ति नहीं मिलती ।' सो क्या पैसोसे आजतक किसीको शान्ति मिली है ? संसारमें ईर्ष्या, द्वेष, लोभ और तृष्णा ही तो अशान्तिके मूल हैं और इन सबका मूल पैसेका प्यार है । यदि शान्ति पानी है तो आपको पैसेकी प्रीति छोड़नी होगी । पैसा ही नहीं, संसारकी कोई भी वस्तु हमे सुख-शान्ति तभी दे सकती है, जब हम उसके गुलाम न रहकर स्वामी बने रहें, अर्थात् उसके रागसे मुक्त रहकर उसका अनासक्तिसे उपार्जन और उपयोग कर सकें । आपके अदर जो पहलेके शुभ संस्कार हैं, वे ही आपको उस तृष्णाके दलदलसे निकलनेको उत्साहित करते हैं, किन्तु स्वार्थ और लोभका धक्का फिर उसीमें ढकेल देता है । अपनी इस दुर्बलताको भगवान्के जिम्मे मढ़ना तो बहुत बड़ा धोखा है । आप सोचिये, जिसने श्रीभगवान्को

आत्मसमर्पण कर दिया है, उसका क्या कोई अन्य स्वार्थ रहता है। स्वार्थ तो तभीतक है, जबतक हम अपनी एक पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता बनाये हुए हैं और जबतक स्वार्थ है, तभीतक यह प्रमाद या अनाचार है।

यह हमारी बहुत बडी भूल है कि हम असत्यके द्वारा कुछ विशेष लाभ उठानेकी आशा रखते हैं। हानि-लाभ तो मनुष्यके प्रारब्धाधीन हैं। देखिये, बड़े-बड़े शहरोंमें सभी व्यापारी पैसा पैदा करनेका अथक उद्योग करते हैं, किन्तु उन सबको समान सफलता नहीं मिलती। यह भी नहीं कह सकते कि उनमें जिसे अधिक सफलता मिलती है, उसका उद्योग औरोंसे बढ़कर होता है। कई बार सुचतुर व्यापारी फेल हो जाते हैं और अनुभवशून्य लोग धन पैदा कर लेते हैं। अतः व्यवसायमें सच्ची कुशलता तो सचाई और ईमानदारी ही है। इससे प्रारब्धदोषवश वह भले ही धन पैदा न कर सके तथापि अन्य व्यापारियोंमें उसकी साख तो हो ही जाती है। असलमें शान्तिका उपाय तो यही है कि हानि-लाभसे निरपेक्ष रहकर केवल कर्तव्यबुद्धिसे पूरी सचाईके साथ काम किया जाय। सच्चा धनी तो वही है, जिसे धनकी चाह नहीं है। जो अधिक धन चाहता है वह तो, भले ही करोड़पति कहा जाय, धनका दास ही है। वह कभी शान्ति नहीं पा सकता। शान्ति तो हमारे अंदर है। हम जितना-जितना उसे बाहरके साधनोंमे ढूँढेंगे, उतने ही उससे दूर होकर अधिक अशान्त होते जायँगे। इसलिये यदि आप शान्ति चाहते हैं तो त्यागवीर बनिये और सारी दुर्बलताओंपर विजय पाकर शान्ति-साम्राज्यका उपभोग कीजिये। इसमें भगवन्नामका आश्रय और सच्चे

हृदयसे की हुई प्रार्थना बहुत सहायक है । जब हृदयमें पश्चात्तापकी अग्नि प्रज्वलित होती है, तब पाप-तापका सारा कूड़ा-कचरा भस्म हो जाता है । जो सारे प्रयत्नोंको छोड़कर श्रीभगवान्‌के सामने दीन हो जाता है, प्रभु उसे अत्यन्त बल प्रदान करते हैं, जिससे वह फिर मायाकी मरुमरीचिकामें भ्रमित नहीं हो सकता ।

'आजकल सब जगह ऐसा ही होता है'—यह कहना ठीक नहीं है । इसमें अपनी दुर्बलताको छिपाकर बुराईका समर्थन करना होता है, जो और भी दुर्बलताका द्योतक है । संसारमें भलाई और बुराई तो सदा ही रहती है, किन्तु नियम कुछ ऐसा है कि हमारा जैसा संकल्प होता है, वैसी ही दुनिया हमारे सामने रहती है । यदि आप अपनी दृष्टिको निर्दोष बना लें तो आप जिस मार्गपर भी चलेंगे, वही आपके लिये निर्दोष हो जायगा । पवित्र जीवन व्यतीत करनेके लिये व्यवहारको छोड़कर जंगलमें जानेकी जरूरत नहीं है । आप सचाईके साथ कार्य करनेका दृढ़ निश्चय कर लेंगे तो इसमें आपको कोई विशेष अड़चन मालूम नहीं होगी । यह भय तो तभीतक है, जबतक आप सचाईकी अपेक्षा बाह्य वस्तुओंकी अधिक कदर करते हैं ।

आपने चार आदमियोंके मालिकसे छिपाकर किये हुए कार्यके विषयमें पूछा, सो यदि उस कामसे मालिकका कोई सम्बन्ध नहीं है और कुछ नुकसान भी नहीं हुआ है तो उसे मालिकसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इससे दूसरे लोगोंको हानि पहुँचेगी और व्यर्थ राग-द्वेष बढ़ेगा । हाँ, स्वयं श्रीभगवान्‌से क्षमा माँगकर

और उसका प्रायश्चित्त भी करके फिर कभी वैसा न करनेका निश्चय अवश्य कर लेना चाहिये।

आप पूछते हैं कि 'मनुष्य जो चाहे सो कर सकता है या वह ईश्वरके हाथकी कठपुतली है?' इस विषयमें शास्त्रोंका ऐसा मत है कि जीव कर्म करनेमें तो स्वतन्त्र है, किन्तु उसके कर्मका फल श्रीभगवान्‌के हाथमें है। परन्तु यह कर्म करनेकी स्वतन्त्रता उसे दी है भगवान्‌ने ही, अतः वास्तवमें वह सर्वथा श्रीभगवान्‌के अधीन है। तथापि अपनी इस स्वतन्त्रताके कारण उसमें ऐसी शक्ति भी है कि वह अपना कर्तृत्वाभिमान मिटाकर अपनेको श्रीभगवान्‌के हाथकी कठपुतली बना दे। इस प्रकार कर्म करनेमें जीव स्वतन्त्र है, किन्तु उसे याद रखना चाहिये कि उसकी यह स्वतन्त्रता भगवान्‌की दी हुई है; तथा वह श्रीभगवान्‌के हाथकी कठपुतली बन सकता है। किन्तु तभी, जब वह अपना कर्तृत्वाभिमान मिटाकर भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर दे। इन दोनों दृष्टियोंमेंसे किसीपर भी स्थिर रह जाय तो प्रमाद नहीं हो सकता। प्रमाद तो तभी होता है, जब जीव या तो श्रीभगवान्‌को भूलकर अपनेको ही कर्ता-धर्ता समझ ले या अपनी मनोमुखी प्रवृत्तिमें श्रीभगवान्‌के प्रेरकत्वका आरोप कर दे।

---

(६४)

त्यागसे शान्ति मिलती ही है

सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने जो कुछ पूछा उसका एकमात्र उत्तर यही है कि वास्तविक त्याग होनेपर तो शान्ति मिलती ही है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२। १२)।

यदि शान्ति नहीं है तो त्यागमें ही त्रुटि है। सच्चा त्याग मनसे होता है। पर जबतक त्यागकी स्मृति है और त्यागका अहङ्कार है, तबतक भी यथार्थ त्याग नहीं समझना चाहिये। इसलिये त्यागका भी त्याग होना चाहिये। त्यागकी वास्तविकताम त्याग किये हुए पदार्थोंमें आसक्ति या ममता नहीं रह जाती। उसमें एक आनन्दकी अनुभूति होती है, पर वह आनन्द भी अहङ्कारजनित नहीं होता। सहज तृप्तिजनित सुख होता है। वस्तुत त्यागके बिना सच्ची सेवा भी नहीं हो पाती। जो सेवा करके बदला चाहता है, उसका कोई पुरस्कार चाहता है, उसमें त्यागका अभाव होनेसे उसकी सेवा मलिन और अशुद्ध हो जाती है। उससे शान्तिरूपी सच्चा सुख नहीं मिल सकता।

हम ऊपरसे वस्तुओंका त्याग करते हैं, परंतु मनमें उनके प्रति आसक्ति, मोह और महत्त्व बना रहता है। इसलिये उनकी बार-बार स्मृति होती है, मन उनके सङ्गसे मुक्त नहीं होता। अतएव कभी तो उनका अभाव खटकता है और कभी यदि कोई वस्तु हमने किसीको दी है तो उसके प्रति यह भावना होती है कि मैंने उसका बड़ा उपकार किया है, उसे मेरा कृतज्ञ होना चाहिये। वह नहीं होता, उपकार नहीं मानता तो मनमें दु.ख होता है। दोनों ही स्थितियोंमें यथार्थ त्यागका अभाव है। नहीं तो, त्यागमें न तो कोई अभाव दीखता और न दुःख ही होता। त्याग करनेवाला मनुष्य न तो त्याग की हुई वस्तुका स्मरण करके अभावका अनुभव करता है और न दूसरेके लिये उत्सर्ग की हुई वस्तुके लिये अहङ्कार करके उसपर अहसान ही करता है।

त्यागकी कसौटी ही है शान्ति। जिस त्यागके अनन्तर शान्ति मिलती है और शान्तिजनित शुद्ध आनन्दकी अनुभूति होती है, वही

यथार्थ त्याग है । आपको जो दोनों ही प्रकारसे शान्ति नहीं मिली, न तो वस्तुओंके छोडनेपर और न उन्हें सुयोग्य पात्रोंको प्रदान करनेपर ही; इससे तो यही सिद्ध होता है कि वस्तुओंका परित्याग और दान दोनों ही किसी-न-किसी अंशमें त्रुटियुक्त हैं—त्यागकी सच्ची भावनासे रहित हैं । आप अपने मनको गहराईसे देखिये, आपको त्रुटियोंका पता लग ही जायगा ।

परतु इससे आपको हताश नहीं होना चाहिये और न त्याग एवं दानको बुरा ही मानना चाहिये । जितने अंशमें त्याग और दान सम्पन्न हुआ है, उतने अंशमें वह उत्तम ही है । उससे शान्ति नहीं मिली, यह ठीक है, परंतु उसका परिणाम शान्तिकी प्राप्तिमें सहायक अवश्य होगा । सत्कर्मका फल किसी-न-किसी अशमें कल्याणकारक ही होगा, उससे हानि तो होगी ही नहीं—

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥

(गीता ६ । ४०)

'शुभ कर्म करनेवाला कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ।' अतएव आपको ऐसे शुभ सङ्कल्पों और कार्योंसे कभी विरत नहीं होना चाहिये, वरं त्यागकी मानसिक भावनाको यथासाध्य विशुद्ध बनाना चाहिये । उसमें जितनी ही विशुद्धि आयेगी, उतना ही वह त्याग सच्ची शान्तिकी प्राप्ति करानेवाला होगा । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ।

इसके लिये एक बहुत अच्छा भाव यह है कि हम जो कुछ भी शुभ कार्य करें, उसे भगवान्के लिये करें और यह समझें कि भगवान्की ही प्रेरणासे भगवत्प्रीत्यर्थ यह कार्य किया जा रहा है । त्यागका कार्य हो तो यह समझें कि भगवान्की ही वस्तु है और भगवत्प्रेरणासे

भगवान्‌के लिये ही उसका त्याग हो रहा है। दानमें यह भावना करे कि भगवान्‌की ही वस्तु, भगवान्‌की ही प्रेरणासे, भगवान्‌के प्रति अर्पण की जा रही है। भगवान् जो इस काममें मुझको निमित्त बना रहे हैं और स्वय ही गृहीताके रूपमें आकर उसे ग्रहण कर रहे हैं, यह उनकी परम कृपा है। इन भावोंके रहनेपर मनमें अहङ्कार, आसक्ति या ममता नहीं रहेगी और परिणाममें शान्ति अवश्य मिलेगी। विशेष भगवत्कृपा।

(६५)

भगवच्चिन्तनमें ही सुख है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने जो कुछ लिखा सो आपकी दृष्टिसे ठीक है, परंतु यथार्थ बात तो यह है कि जबतक आपका यह विश्वास है कि जागतिक पदार्थोंमे—भोगोंमें सुख है और जबतक उनके संग्रहको ही आप सुखका साधन मानते रहेंगे, तबतक आपको सच्चे सुखके दर्शन कदापि नहीं होंगे। अमुक-अमुक विषयोंकी प्राप्तिसे, अमुक प्रकारकी परिस्थितिसे मुझको सुख हो जायगा। यह बहुत बड़ा भ्रम है। इसी भ्रमके कारण मनुष्य दिन-रात विषयचिन्तनमें लगा रहता है। आपको यह सत्य सदा याद रखना चाहिये कि समस्त पापोंका मूल विषय-चिन्तन है। श्रीमद्भगवद्गीतामे अर्जुनने भगवान्‌से पूछा था कि 'इच्छा न रहनेपर भी ऐसा कौन है, जिसकी प्रेरणासे मनुष्य मानो बलपूर्वक लगाया हुआ-सा पाप करता है!' (३। ३६) श्रीभगवान्‌ने इसके उत्तरमे स्पष्ट बतलाया कि 'काम (कामना) ही

वह वैरी है, जो महाशन है—जिसकी कभी तृप्ति होती ही नहीं और जो महान् पापी है; यह काम ही क्रोध बनता है और इस कामकी उत्पत्ति होती है रजोगुणसे।' रजोगुण रागात्मक है। अर्थात् आसक्ति ही रजोगुणका स्वरूप है। इस आसक्तिसे ही कामकी उत्पत्ति होती है और आसक्ति होती है विषयोंके चिन्तनसे, विषय-चिन्तनमें मनुष्यका मन जहाँ रम जाता है, वहाँ एकके बाद दूसरा क्रमशः सारे दोष उत्पन्न हो जाते हैं और अन्तमें उसका सर्वनाश होकर रहता है। भगवान्‌ने कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(गीता २। ६२-६३)

'मनुष्य मनसे विषयोंका चिन्तन करता है, विषय-चिन्तनसे उसकी विषयोंमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे उनको प्राप्त करनेकी कामना उत्पन्न होती है, कामनामें विघ्न पड़नेपर क्रोध [कामनाके सफल होनेपर लोभ] उत्पन्न होता है, क्रोध [या लोभ] से मूढ़ता आती है, मूढ़भावसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृतिके भ्रंश होनेपर बुद्धि मारी जाती है और बुद्धिके नाश हो जानेसे मनुष्यका पतन या सर्वनाश हो जाता है।'

इससे सिद्ध है कि समस्त पापोंका और सर्वनाशका मूल विषय-चिन्तन है। यह विषय-चिन्तन तबतक नहीं छूटता, जबतक विषयोंमें सुखकी प्राप्तिका भ्रम है। भगवान् तो कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५ । २२)

'इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न जितने भी भोग हैं, वे सब निश्चय ही दुःखयोनि हैं,—दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं और आदि-अन्तवाले—अनित्य हैं, अतएव हे अर्जुन ! बुद्धिमान् पुरुष इनमें नहीं रमता—सुख नहीं मानता ।' सच्चे अक्षय सुखका उपभोग तो उस भगवत्-रूप योगमें युक्त पुरुषको प्राप्त होता है, जिसका अन्तःकरण बाह्य जागतिक विषय-भोगोंमें आसक्त नहीं है और जो अन्तःकरणके ध्यानजनित सुखको प्राप्त है । (गीता ५ । २१)

अतएव हमें यदि सुखकी—सच्चे सुखकी चाह है तो चित्तके द्वारा निरन्तर भगवान्का चिन्तन—ध्यान करनेका प्रयत्न करना पड़ेगा । भगवान्ने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥

(११ । १४ । २७)

'जो मनुष्य निरन्तर विषय-चिन्तन करता है, उसका चित्त विषयोंमें आसक्त हो जाता है और जो मेरा (भगवान्का) स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें (श्रीभगवान्में) तल्लीन हो जाता है ।'

एवं भगवान्के चित्तमें आते ही भगवत्-कृपासे चित्तगत समस्त अशुभों, दोषों और पापोंका नाश हो जाता है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान् ।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः ॥

यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम्।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम्॥
(१२।३।४५, ४७)

'कलियुगके कारण मनुष्यके वस्तु, स्थान, अन्त:करण सभीमें दोष उत्पन्न हो जाते हैं, परंतु जब पुरुषोत्तम श्रीहरि चित्तमें आ जाते हैं, तब वे सारे दोष नष्ट हो जाते हैं। जैसे स्वर्णके साथ संयुक्त होकर अग्नि उसकी धातुसम्बन्धी मलिनता आदि दोषोंको नष्ट कर डालती है, वैसे ही हृदयमें आये हुए भगवान् विष्णु उसके समस्त अशुभ संस्कारोंको नष्ट कर देते हैं।'

परंतु भगवान्‌का चिन्तन तभी होगा, जब 'विषयोंमें सुख है'—यह भ्रम हमारे मनसे सर्वथा निकल जायगा और जब यह निश्चय हो जायगा कि सुख तो एकमात्र श्रीभगवान्‌में ही है। किसी वस्तुका यथार्थ त्याग मनुष्य तभी करता है, जब वह समझ लेता है कि यह वस्तु सुख नहीं वरं नित्य नये-नये दु:ख ही देनेवाली है। और यह दोष वैसे ही प्रत्यक्ष निश्चयके रूपमें आ जाना चाहिये, जैसे हमारा यह निश्चय है कि संखिया या अफीम खानेसे हमारी मृत्यु हो जायगी। बहुत बड़े धनका लालच देनेपर भी मनुष्य अफीम या संखिया नहीं खाता, क्योंकि वह समझता है, इसके खाते ही मैं मर जाऊँगा। ऐसी ही विषबुद्धि विषयोंमें होनी चाहिये। अष्टावक्रजीने कहा है—'विषयोंका विषके समान त्याग कर दो'—'विषयान् विषवत् त्यज।'

जबतक विषयोंमें निश्चित दु:खबुद्धि नहीं होती और भगवान्‌में निश्चित सुखबुद्धि नहीं होती, तबतक न तो विषयोंसे मन हटेगा और न भगवान्‌में लगेगा। और इसीलिये तबतक न तो दु:खका नाश

होगा और न सुखकी प्राप्ति होगी; क्योंकि भगवान्‌से अलग विषयोंमें सुख है ही नहीं । इसलिये मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इस विषयपर गम्भीरतासे विचार करें, विषयोंके स्वरूपको समझें और उनमें दुःख-दोष देखकर उनसे चित्तको हटायें तथा परम सुखरूप भगवान्‌में लगायें । फिर देखें, आपको उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक सुख मिलता है या नहीं ।

---

(६६)

प्रसन्नता-प्राप्तिका उपाय

सप्रेम हरिस्मरण । संसारमें रहते हुए ही चित्तकी प्रसन्नताका उपाय पूछा सो इसका उपाय भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें बतलाया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

(२ । ६४)

'वशमें किये हुए शरीर, इन्द्रिय और मनसे जो पुरुष राग-द्वेषसे मुक्त होकर विषयोंका सेवन करता है, उसे प्रसाद (प्रसन्नता) की प्राप्ति होती है ।' और इस प्रसाद (प्रसन्नता) से सारे दुःखोंका नाश हो जाता है—

'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।'

(गीता २ । ६५)

जबतक मनुष्य राग-द्वेषके वशमें है और जबतक मन-इन्द्रियोंका गुलाम है, तबतक उसके शरीर, इन्द्रिय और मनसे ऐसे कार्य होते ही रहते हैं, जो उसकी सारी प्रसन्नताका नाश करके उसका पतन कर देते हैं ।

विषयोंमें रागी (विषयासक्त) मनुष्य जिह्वाके स्वादवश गुरुपाक पदार्थोंका अधिक भोजन कर लेता है अथवा राजस-तामस पदार्थोंको खा लेता है, जिससे शरीरमें विकार होते हैं और प्रसाद (प्रसन्नता) का नाश होता है ।

राग-द्वेषयुक्त मनुष्य लोगोंके दोष देखने और उनकी स्तुति-निन्दा करनेमें रसका अनुभव करता है, अतः उसके द्वारा व्यर्थ, कटु, असत्य, अहितकर भाषण होता रहता है । फलस्वरूप उसके प्रसादका नाश होता है ।

राग-द्वेषयुक्त मनुष्य घर-द्वार, परिवार-परिजन, धन-सम्पत्ति, यश-कीर्ति और शरीरके आराम-भोग आदिमें राग करके चोरी, जुआ, दुराचार, असत्य, अनाचार, दुर्व्यसन, कुसङ्ग और कुप्रवृत्तिमें प्रवृत्त हो जाता है और इससे उसके प्रसादका नाश हो जाता है ।

राग-द्वेषके कारण मनुष्य अपने स्वार्थमें बाधक समझकर लोगोंसे वाद-विवाद, वैर-विरोध, मामले-मुकद्दमे, उनका अपमान-तिरस्कार, उन्हें दुःख तथा हानि पहुँचानेकी चेष्टा और दुःख तथा हानि होनेपर प्रसन्नताका अनुभव करता है तथा दूसरोंके स्वत्व, धन, जमीन, स्त्री, मान, यश तथा अधिकारपर मन चलाता है एवं उन्हें हथियानेका प्रयत्न करता है । इससे उसके प्रसादका नाश होता है ।

बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो राग-द्वेषके वशमें नहीं होता तथा इन्द्रियोंको एवं मनको अपने वशमें रखकर शास्त्रविहित विषयोंका भगवान्‌की प्रीतिके लिये सेवन करता है ।

शरीरको वशमें रखकर उसके द्वारा प्राणिमात्रकी सेवा, भगवान्, संत तथा गुरुजनोंकी यथायोग्य वन्दना, पूजा और सेवा करनी चाहिये ।

वाणीको वशमें रखकर उसके द्वारा घबराहट उत्पन्न न करनेवाले सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलने चाहिये तथा भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम, रहस्य, प्रेम आदिका यथायोग्य कथन तथा जप-कीर्तन करना चाहिये ।

मनको वशमें रखकर उसके द्वारा शुभचिन्तन, भगवच्चिन्तन करना चाहिये । उसमें दया, प्रेम, सौहार्द, समता, तितिक्षा, अहिंसा, प्रसन्नता, कोमलता, मननशीलता, पवित्रता आदि भावोंका विकास, सरक्षण तथा संवर्द्धन करना चाहिये ।

इस प्रकार तन, वचन और मनको नित्य-निरन्तर शुभके साथ जोड़े रखना चाहिये तथा यह सब भी करना चाहिये निष्कामभावसे, केवल श्रीभगवान्‌की प्रीतिके लिये ही । एवं यही चाहना चाहिये कि इस तरह विशुद्ध भगवत्-प्रीतिके लिये तन, वचन तथा मनसे सेवन-भजन करनेमें उत्तरोत्तर उल्लास, उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति बढ़ती रहे । प्रसन्नता या सच्चे प्रसादका यही लक्षण है कि उसमें मन-बुद्धि सर्वथा भगवान्‌के अर्पण हुए रहते हैं । इन्द्रियाँ और शरीर भगवान्‌की सेवाके लिये अपनेको समर्पण कर देते हैं । अशुभका सर्वथा परित्याग हो जाता है । परतु जबतक मनुष्य राग-द्वेषरूपी लुटेरोंके वशमें हुआ रहता है, तबतक वह शुभके साथ पूर्णरूपसे सयुक्त नहीं हो सकता—भगवान्‌में चित्तको सर्वथा संलग्न नहीं कर सकता ।

परंतु राग-द्वेषके छूटनेका उपाय भी भगवान्‌का भजन ही है । भगवद्भजनसे ही, भगवान्‌के नित्य अपराभूत अपरिमित बलसे ही मनुष्य राग-द्वेषरूपी प्रबल डाकुओंसे छुटकारा पा सकता है ।

अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह भगवान्‌के नाम, रूप, लीला,

गुण, धाम आदिमें राग करे। उनके असीम सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य-सागरमे बार-बार डुबकी लगाना आरम्भ कर दे और भगवद्विरोधी—भगवान्‌से हटानेवाले विषयोंमे द्वेष करे। परिणाम यह होगा कि उसके राग-द्वेषका नाश हो जायगा। फिर न तो उसके हृदयमे द्वेष रहेगा और न उस द्वेषका प्रतिद्वन्द्वी राग ही रहेगा। उस समय भगवान्‌में उसकी सर्वत्र द्वेषहीन विशुद्ध अनुरक्ति हो जायगी—उन्हींमें अनन्य अनुराग हो जायगा। इसी 'राग'का नाम 'भगवत्प्रेम' है। इसीकी प्राप्तिके लिये भक्तजन सदा लालायित रहा करते हैं। भगवत्प्रेमके सामने महापुरुष मुक्तिको भी तुच्छ समझकर सदा इसके सेवनमें लगे रहते हैं—

मुकुति निरादरि भगति लुभाने।

(६७)

सुख-शान्ति कैसे हो ?

आपका कृपापत्र मिले कई दिन हो गये। उत्तर लिखनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा कीजियेगा। पत्र-व्यवहारमें मुझसे बड़ा प्रमाद हो जाता है और इससे मै अपने अनेकों कृपालु मित्रोंके कष्टका कारण बनता हूँ, इसका मुझे खेद भी है, परन्तु अभी मै अपनी बुरी आदतको सुधार नहीं सका हूँ। आपका पत्र बहुत लम्बा था और मै उसका उत्तर समझ-समझाकर लिखना चाहता था, इससे और भी देर हो गयी। आपने लिखा कि 'हमारे पड़ोसी हमें सदा सताया करते हैं तथा हमारी जातिमें लोग हमारा तिरस्कार करते हैं। यद्यपि हमारा कोई दोष नहीं है, तथापि वे ऐसा क्यों करते हैं पता नहीं है।

सचमुच हम बहुत दुखी हैं। घरके लोग भी मुझसे सहमत नहीं होते। वे भी मेरी हर एक बातका खण्डन करते हैं। मै क्या उपाय करूँ, जिसमें मेरा दु.ख मिटे और मुझे शान्ति मिले।'

बात यह है कि आपकी जो शिकायत है, वह केवल आपकी ही नहीं है। जगत्में लाखों-करोड़ों नर-नारी ऐसे होगे, जो आपकी ही भाँति दुखी हैं। किसीकी पितासे नहीं पटती, किसीकी पुत्रसे नहीं मिलती, कहीं पति-पत्नीमे कलह होता है, कहीं गुरु-शिष्यमें झगडा है, कहीं सम्प्रदायोंमे कलह है और कहीं नौकर-मालिकमें अनबन रहती है। इनमे प्राय. सभी यही कहा करते हैं कि 'हमारा कोई दोष नहीं है, हमें लोग बिना ही कारण सताते हैं' और सभी वस्तुत. दुखी भी रहते हैं।

संसारमे ऐसा कौन है, जो छाती ठोंककर यह कह सक कि मुझसे कोई भूल नहीं होती। भूल सभीसे होती है, परन्तु अपनी भूलको देखनेवाले बहुत कम हुआ करते हैं। अपनी भूल समझमें आ जाय तो फिर दूसरोकी भूल दीखनेका अवसर बहुत ही कम रह जाय। आपको जो दूसरोमें दोष दीखते हैं, वे सम्भवत. उनमें होंगे। पर दोष किसमें नहीं होते। परन्तु बुद्धिमानी इसीमें है कि मनुष्य दूसरोंकी भूल देखनेके पहले अपनी भूलोंको देखे। आपको यह सोचना चाहिये कि आपमें कोई दोष है या नहीं, आपके स्वभावमें कहीं सुधारकी गुंजाइश है या नहीं, आप कहीं छोटी-सी बातको तिलका ताड़ बनाकर मनमें दुखी तो नहीं होते हैं ? कहीं किसी दूसरेकी चर्चा चलती हो और आप उसे अपनेपर लेकर कहीं चिढ़ तो नहीं जाते ? आपके लिये कोई कुछ बात, जो सच्ची होनेपर भी प्रतिकूल हो, कहता है तो

उसे आप सह सकते हैं या नहीं ? आपसे मनकी बात करते लोग डरते तो नहीं हैं ? आपके मनकी बात न होनेसे आप कहीं जल तो नहीं उठते ? किसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इस बातको आप ठीक समझते हैं या नहीं ? आप कहीं अपनी रुचिकी बातको दूसरोंसे जबरदस्ती तो नहीं मनवाना चाहते और आपका अपने पड़ोसियों, जातिवालों तथा घरवालोंके साथ ऐसा तो व्यवहार नहीं होता कि जो उनको बुरा लगनेवाला हो तथा उनका अपमान एवं तिरस्कार करनेवाला हो । मेरी तुच्छ धारणामें यदि आप जरा गहराईसे विचार करेंगे तो आपको शायद अपनी कोई भूल दिखायी पड़ जायगी और उसके सुधारमें लगते ही आपके विरोधियोंकी सख्या कम होने लगेगी ।

जगत्मे न तो सबके स्वभाव एक-से होते हैं और न सबकी रुचि ही एक-सी है । भिन्न-भिन्न कर्म-संस्कारोंको लेकर जीव जगत्में आते हैं और अपनी-अपनी कर्मवासनाके अनुरूप चेष्टा करते हैं । जब आप और हम सबकी रुचि नहीं रख सकते, तब आपको और हमको यह आशा क्यों करनी चाहिये कि अन्य सब लोग आपकी और हमारी बात मानें । स्वभाव बहुत कठिनतासे बदला जाता है । पर स्वभाव बदलना ही हो तो अपना ही स्वभाव बदलनेकी चेष्टा करनी चाहिये । जबतक हमारे मनमें क्रोध, शोक, दुःख और विषाद होता है, तब-तक हमारे स्वभावमें दोष है ही । इन दोषोंको मिटानेकी चेष्टा करके स्वभावको विशुद्ध करना चाहिये । दूसरोंको ठीक करनेकी अपेक्षा अपना सुधार करना है भी सहज ।

जैसे मोमजामेका कोट पहन लेनेपर बरसातका जल शरीरपर नहीं लगता, बाहर-ही-बाहर बह जाता है और जैसे अभेद्य कवच धारण

कर लेनेपर बाणोंका शरीरसे स्पर्श नहीं होता, वैसे ही निजदोषदर्शन-का मोमजामेका कोट और क्षमारूपी अभेद्य कवच पहन लेना चाहिये। फिर आपके प्रति होनेवाली सारी आलोचनाएँ बाहर-ही-बाहर रहेंगी। आपके अंदर उनका प्रवेश होगा ही नहीं। बुराई तभी आती है, जब हम उसका ग्रहण करते हैं। हम ग्रहण न करें तो कोई भी बुराई हमारे अंदर नहीं आ सकती।

इसके सिवा यह भी विचारनेकी बात है कि सभी रूपोंमें भगवान् बसते हैं। हमारे प्रति जिसका जो व्यवहार होता है, वह असलमें भगवान्‌की ओरसे ही होता है। एक साधुको किसीने लाठीसे मार दिया, उनके सिरमें चोट आयी, वे बेहोश हो गये। अस्पताल पहुँचाये गये। वहाँ मरहम-पट्टी होनेपर जब होश आया, उस समय अस्पताल-का एक कर्मचारी उन्हें पिलानेके लिये दूध लाया, होश-हवासकी परीक्षाके लिये जब उनसे पूछा गया कि 'कौन दूध पिला रहा है?' तब उन्होंने हँसकर कहा—'जिसने लाठी मारी थी, वही दूध पिला रहा है।'

फिर, जो लोग आपकी निन्दा करते हैं, वे आपके दोषोंको प्रकट करके उन्हें निकाल देना चाहते हैं, आपको उनका सचमुच उपकार ही मानना चाहिये। आपके आत्मस्वरूपकी तो कोई निन्दा कर नहीं सकता और जड शरीर निन्दनीय है ही, फिर दुःख क्यों करना चाहिये।
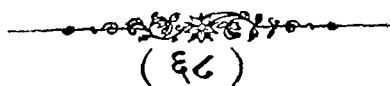
(६८)

शाश्वत शान्तिके केन्द्र भगवान् हैं

प्रिय बहिन! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आप एक भावनामय जगत्‌में विचरण कर रही हैं। इस आयुमें ऐसा होना

अस्वाभाविक भी नहीं है। अभी आपके सामने जीवनका एक विशाल क्षेत्र पड़ा है। जहाँ मनोहर उद्यान भी है और कण्टकाकीर्ण वन भी। कोमल समतल भूमिपर भी चलना है और दुर्गम गिरिगह्वरको भी पार करना है। आप दोनो परिस्थितियोंमें समान रूपसे प्रसन्न रह सकें—इसके लिये अभीसे तैयारी कर लेनी है। शाश्वत विराम और सनातन आश्रयकी खोज आपकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये शुभ चिह्न हैं। आप अभी कुमारी हैं। इसके बाद आपके सामने एक नयी दुनिया होगी, जिसके प्रति प्रत्येक युवक-युवतीका आकर्षण होता है। जीवनके कितने ही सपने और अधूरी आशाएँ लेकर नारी उस नूतन ससारमें प्रवेश करती है और अपने प्रेम, त्याग, बलिदान और तपस्यासे वहाँ स्वर्गको उतार देती है। आप उस जीवनसे कुछ भयभीत-सी जान पड़ती हैं, उसके प्रति आपके मनमें कुछ अच्छे भाव नहीं हैं; कदाचित् अशान्तिका यह भी कारण हो। शाश्वत शान्तिके केन्द्र है—भगवान्, जो सदा सबके हृदयमन्दिरमे विराजमान है। शान्ति उनके चरण चूमती है, उसी शाश्वती शान्तिके स्पर्शसे मनमे शान्ति आती है। जगत्‌में कोई स्थान, कोई परिस्थिति या कोई साधन शान्तिका निकेतन नहीं है। आपको इस जीवनमें किसने भेजा है? भगवान्‌ने। आपके अन्तरमें इतनी भावनाओंकी सृष्टि कौन कर रहे हैं? भगवान्। मनुष्य भगवान्‌के हाथोंका खिलौना है। वे ही जब, जहाँ, जिस जीवनमें रक्खेंगे, रहना होगा। आपको सीता, सावित्री, दमयन्ती आदिके जीवनसे शिक्षा और प्रेरणा लेनी चाहिये। नारी स्नेह, वात्सल्य, उदारता, सेवा और त्यागकी प्रतिमूर्ति होती है, आपको भी ऐसा ही

बनना चाहिये। इसीमें आपकी शोभा है। निःस्वार्थ त्याग, स्नेह और सेवामें जो सुख और शान्ति है, उसकी सुमधुर अनुभूति तभी आप कर सकेंगी। भगवान्‌का स्मरण करके सर्वत्र उन्हींको देखना और वे जिस परिस्थितिमे डाल दें, उसीमें सन्तुष्ट रहना—यही शान्तिका पथ है।

(२) दर्शन और ज्यौतिष आपके प्रिय विषय हैं, इन्हे आपसे कौन छीनेगा ? भगवान्‌से प्रार्थना करें। उनकी कृपासे आप ऐसे घरमें जा सकती हैं, जहाँ आपकी इस सुरुचिको आदर और प्रोत्साहन प्राप्त हो सके। आजीवन ब्रह्मचर्य आजकल किसी भी नर-नारीके लिये सहज सम्भव नहीं है; परंतु गृहस्थमें रहकर भी अधिक-से-अधिक संयम और यथासाध्य ब्रह्मचर्यका पालन किया जा सकता है। आपको यह नहीं भूलना चाहिये कि आप सब कुछ होनेके साथ ही नारी भी हैं। आपके हृदयमे माताका हृदय है। अत. आपको एक आदर्श नारी, भारतीय नारी बननेके बाद ही और कुछ बनना चाहिये। विद्या 'स्वान्त.सुख' के लिये है। भारतीय नारीकी प्रधान साधना सतीत्व और सेवा ही है। यही उसका स्वधर्म है और इसीसे वह योगिजनदुर्लभ परम पद एवं परा शान्तिको प्राप्त कर सकती है। नारी नरकी जननी है, नरका महान् आश्रय है। उसका स्थान बहुत ऊँचा है। उसका उत्तरदायित्व बहुत बडा है।

(३) अधिक चिन्तनसे भ्रूमध्यमे सिहरनकी प्रतीति होती है। चिन्ता और चिन्तन दोनों कम करके प्रसन्न रहनेकी चेष्टा करें।

(४) नारीके लिये सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय ही सत्सङ्ग है। जिन विचारोंमें तल्लीन होकर आप अपनेको पागलकी-सी स्थितिमें

अनुभव करती हैं, वे हैं ही वैसे ही। भविष्यमें प्रतिकूलताकी आशङ्का या भावना करके बराबर चिन्ताशील बनना जीवनके विकास और उल्लासको अवरुद्ध और मूर्च्छित करना है। मनुष्यको अपने भीतर आशा और उत्साह भरना चाहिये, व्यर्थकी चिन्ता नहीं। आप भगवान्‌पर और भगवत्कृपापर भरोसा रक्खें। वे सबके सहज सुहृद् हैं। आपके भी आत्मा हैं। उन मङ्गलमय प्रभुकी दयासे आपका भविष्य मङ्गलमय होगा तथा वे आपके जीवनको सर्वोच्च लक्ष्यपर भी पहुँचायेंगे—ऐसी दृढ़ आस्था और निश्चित आशा रखते हुए आपको सतत प्रसन्न रहना चाहिये। शेष प्रभुकी कृपा।

---

(६९)

शान्तिका अचूक साधन

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंके उत्तरमें निवेदन है—

(१) भगवान् विष्णु, राम, श्रीकृष्ण और शङ्करजी आदि भगवान्‌के जिस नाम-रूपमें आपकी विशेष रुचि हो, आप उसीको अपना परम इष्ट मानकर उनकी आराधना करें। असलमें एक ही भगवान्‌के ये सब विभिन्न स्वरूप हैं। इनमें छोटे-बडेकी भावना करना अपराध है। जिस स्वरूपमें अपनी निष्ठा हो, उसकी भक्ति करे और शेष स्वरूपोंके लिये यह माने कि मेरे ही इष्टदेव इन सब स्वरूपोंको धारण किये हुए हैं। ऐसा मान लेनेपर न तो अनन्यतामें बाधा आती है और न किसी अन्य भगवत्-स्वरूपका अपमान ही होता है। जो लोग भगवान्‌के किसी भी स्वरूपकी निन्दा या अपमान करते हैं, वे

वस्तुतः अपने ही भगवान्‌का तिरस्कार करते हैं ।

(२) संसारमें जो कुछ है, सब भगवान्‌का ही रूप है और जो कुछ हो रहा है, सब भगवान्‌की लीला है, परतु जहाँ-जहाँपर विशेष विभूति और पूज्य सम्बन्ध हो, वहाँ विशेषरूपसे भगवान्‌की भावना करनी चाहिये । माता-पिताको भगवान्‌का ही स्वरूप समझकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये और उनकी आज्ञाओंका पालन कर उन्हें सुख पहुँचाना चाहिये । इस प्रत्यक्ष भगवत्स्वरूपोंकी पूजा करनेसे भगवान् बड़े प्रसन्न होते हैं । भक्त पुण्डरीककी कथा प्रसिद्ध है । साथ ही गृहस्थके पालनके लिये धर्म और न्याययुक्त आजीविकाके कर्म भी भगवत्-पूजाके भावसे करने चाहिये । भगवत्पूजाका भाव रहनेपर प्रत्येक शास्त्रोक्त और वैध कर्म भगवान्‌का भजन बन जाता है ।

माता-पिताकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करना निश्चय ही धर्म है, परंतु यदि वे पापकी आज्ञा दें—चोरी, हिंसा, व्यभिचार, असत्य आदिका आचरण करनेके लिये कहें तो उसे नहीं मानना चाहिये । माता-पिताकी आज्ञाका पालन करनेमें अपनेको बड़े-से-बड़ा त्याग करना पड़े, यहाँतक कि नरकमें भी जाना पड़े तो उसे भी स्वीकार करना चाहिये; परंतु जिस आज्ञाके पालनसे आज्ञा देनेवाले माता-पिताका भी अनिष्ट होता हो, उस आज्ञाको उनके हितके लिये नहीं मानना चाहिये । चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदिकी आज्ञासे उनका अवश्य ही अनिष्ट होगा; क्योंकि ये बड़े पाप हैं और इनके करवानेवाले वे बनेंगे । ऐसी अवस्थामें उनकी आज्ञा न मानकर उन्हें विनयके साथ समझाना चाहिये और श्रीभगवान्‌से उनकी बुद्धि शुद्ध करनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये । ऐसा करते हुए भी न तो किसीके प्रति द्वेष करना

चाहिये और न 'मैं श्रेष्ठ हूँ और ये निकृष्ट हैं' इस प्रकार अपनेमें श्रेष्ठताका अभिमान और उनमें हेय-बुद्धि ही करनी चाहिये।

(३) यद्यपि संसारके नश्वर भोगोंकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करना उच्चकोटिकी भक्ति नहीं है, तथापि विश्वासपूर्वक यदि ऐसा किया जाय तो कोई बुरी बात भी नहीं है, वह भी भक्ति ही है, अवश्य ही सकाम होनेसे उसका स्तर नीचा है। आपको भगवान्‌में विश्वास करना चाहिये और यह समझना चाहिये कि 'भगवान् नित्य सभी स्थितियोंमें मेरे साथ हैं, वे सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वेश्वर होते हुए भी मेरे परम आत्मीय हैं। उनकी कृपा तथा प्रेमसे मैं सराबोर हूँ। मेरे ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, भीतर-बाहर सर्वत्र उनकी कृपा भरी हुई है। एक क्षणके लिये भी मैं कभी उनकी कृपासे वञ्चित नहीं होता। वे कृपामय हैं। उनका श्रीविग्रह कृपासे ही बना है। अतएव वे किसीपर भी कभी अकृपा नहीं कर सकते। वे मेरी प्रत्येक आवश्यकताको जानते हैं और उनमे जो उचित होंगी, उन्हें वे अवश्य ही पूरा करेंगे।' यों उनकी कृपापर विश्वास करके उनके नामका जप करते रहिये। मेरा दृढ़ विश्वास है कि ऐसा करनेपर आपको अवश्य ही शान्ति मिलेगी। यही शान्तिका अचूक साधन है। भगवान्‌ने श्रीमुखसे कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

'जो मुझको समस्त यज्ञ-तपोंका भोक्ता, सर्वलोकमहेश्वर और समस्त प्राणियोंका (बिना किसी भेदभावके) सुहृद् जान लेता है, वह परम शान्तिको प्राप्त होता है।'

धनसे शान्ति नहीं मिल सकती

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । धनकी लालसा और धनके संग्रहमें शान्ति कहाँ ? आज लोग धनके पीछे इतने पागल हैं; धनके लिये धर्म, सत्य, प्रेम, शान्ति सबको तिलाञ्जलि देकर येनकेनप्रकारेण धनके बटोरनेमें लगे हैं, इसी कारण इतनी चोरबाजारी, घूसखोरी, छीना-झपटी, लूट-खसोट, वैर-विरोध, हिंसा-प्रतिहिंसा और फलतः अशान्ति और दुःखका विस्तार हो रहा है। आज शासक-शासित सभी इस पीड़ासे ग्रस्त हैं। धनका मनोरथ और धन मनुष्यको इतना उन्मत्त बना देता है कि फिर वह आत्म-विनाश करनेमें भी नहीं हिचकता। आज जगत्में यही हो रहा है—

> कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ।
> वह खाये बौरात है यह पाये बौराय ॥

'कनक (धतूरे) से कनक (स्वर्ण-धन) में सौगुनी अधिक मादकता है, धतूरेको मनुष्य खाता है, तब पागल होता है, पर इसके तो पाते ही पागल हो जाता है।' श्रीमद्भागवतमें अर्थका अनर्थकारी परिणाम बतलाते हुए कहा है—

> अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
> नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥
> स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
> भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
> एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
> तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ॥
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः ।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥

× × × ×

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥

(११ । २३ । १७–२१, २३)

'मनुष्योंको धनके कमानेमें, कमा लेनेपर उसकी रक्षा करने, बढ़ाने तथा खर्च करनेमें तथा उसके नाश तथा उपभोगमें सर्वत्र परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, घमंड, मद, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ अर्थ (धन) के कारण ही होते हैं ऐसा माना गया है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषको उचित है कि वह स्वार्थ तथा परमार्थके विरोधी इस अर्थनामधारी अनर्थको दूरसे ही त्याग दे। भाई-बन्धु, पुत्र-स्त्री, माता-पिता और सगे-सम्बन्धी जो स्नेहके कारण सदा एकमेक बने रहते हैं, कौड़ीके कारण इतने पराये हो जाते हैं कि एक दूसरेके वैरी ही बन जाते हैं। थोड़ेसे धनके लिये ही इन सबका क्षोभ और क्रोध भड़क उठता है, बात-की-बातमें सारा स्नेह-सम्बन्ध भूलकर ये लड़ने-झगड़ने लगते हैं और एक-दूसरेका प्राण लेनेवाले बन जाते हैं—यह मानव-शरीर स्वर्ग और मोक्षका द्वार है, इसको पाकर भी जो मनुष्य इस अनर्थोंके मूल धनके फंदेमें फँस जाता है, उसके समान मूर्ख और कौन होगा ?'

आजके बुद्धिमान् (?) मनुष्यने इसी अनर्थकारी धनको जीवनका मुख्य ध्येय मान लिया है और व्यष्टि और समष्टिके लिये इसीको एकमात्र परम सुखका साधन समझकर दिन-रात वह इसीकी चिन्तामें व्यस्त है और भाँति-भाँतिके कुकर्मोंके द्वारा इसके संग्रहमें लगा हुआ है। परम सुखस्वरूप 'भगवान्' और उनकी प्राप्तिके परम साधन 'त्याग'के पवित्र आसनपर धनकी प्रतिष्ठा करके आज मानव अपने मनुष्यत्वसे गिरकर पशुत्व और पिशाचत्वको अपनाता जा रहा है। यह मनुष्यका बड़ा गहरा पतन है! ऐसी अवस्थामें सुख-शान्ति कैसे मिल सकते हैं?

वस्तुके रूपमें धनका विरोध नहीं और न यही है कि मानव-जीवनमें धन अनावश्यक है और उसे कमाना नहीं चाहिये। बात तो यह है कि धन बुरा नहीं है, पर उसे रहना चाहिये आज्ञाकारी सेवक बनकर, आराध्य स्वामी बनकर नहीं, उसका उपार्जन और उपयोग होना चाहिये धर्मयुक्त—सत्य, न्याय, लोकहित और भगवान्की सेवाको नित्य साथ रखकर। इस प्रकार अर्थ और उपभोग (अर्थ-काम) जब 'धर्मसे सयुक्त और सुरक्षित' होते हैं, तभी वे मनुष्यको मोक्षकी ओर बढ़ानेवाले होते हैं। आज मनुष्यको धर्मकी कोई परवा नहीं है, उसे तो केवल धन चाहिये, फिर वह चाहे किसी भी उपायसे प्राप्त हो। परंतु याद रखना चाहिये, इससे शान्ति नहीं मिलेगी। सच्ची शान्ति और सुखकी प्राप्तिके लिये तो भगवान्के शरण होकर, भगवान्का भजन करनेकी आवश्यकता है। असम्भव सम्भव हो जाय, परन्तु भजनके बिना न तो हमारे क्लेशोका नाश होगा और न शान्ति और सुखके समुद्र भगवान्की ही प्राप्ति होगी।

ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥
कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥
अंधकारु बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

और भगवान्‌के भजनके लिये बाहरी पूजन-सामग्रियोंके साथ-ही-साथ भीतरी पुष्पोंका भी चयन करना चाहिये। वे पुष्प ये आठ हैं—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः।
तृतीयं तु दया पुष्पं क्षमा पुष्पं चतुर्थकम्॥
ध्यानपुष्पं तपः पुष्पं ज्ञानपुष्पं तु सप्तकम्।
सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेभिः तुष्यन्ति देवताः॥
(स्कन्दपुराण, रेवाखण्ड ५१)

'अहिंसा प्रथम पुष्प है, (दूसरा) पुष्प इन्द्रियोंका निग्रह है, तीसरा 'दया' पुष्प, चौथा 'क्षमा' पुष्प, (पाँचवाँ) 'ध्यान' पुष्प, (छठा) 'तप' पुष्प, सातवाँ 'ज्ञान' पुष्प और 'सत्य' आठवाँ पुष्प है। इनके द्वारा देवता सन्तुष्ट होते हैं।'

सुख-शान्ति चाहनेवालोंके लिये बस यही साधन है कि वे इन आठों पुष्पोंके द्वारा भगवान्‌का भजन करके भगवान्‌की सन्निधि प्राप्त कर लें।

यह स्मरण रखना चाहिये कि लौकिक धनादि विनाशी पदार्थोंके द्वारा आजतक न तो किसीको शान्ति मिली है और न मिल ही सकती है।

(७१)

सेवाका रहस्य

सादर हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । उत्तरमें निवेदन है कि हमारी सेवा-वृत्ति आज बड़ी ही मलिन और सेवाके नामको कलङ्कित करनेवाली हो रही है । तभी इस प्रकारकी घटनाएँ होती हैं । मानवकी कामोपभोगपरायणता, अधिकारलिप्सा, अर्थकामना, मान-सम्मानकी तृष्णा और संकुचित स्वार्थपरायणताने सेवाको सर्वथा कुत्सित कर दिया है । सेवा आज या तो वह प्रतारणामयी छोटी-सी कीमत है, जिसे देकर बदलेमें बहुत बड़ा मान-सम्मान या पद-अधिकार चाहा जाता है या एक प्रकारकी रिश्वत है, जिसे देकर नीच स्वार्थसाधनकी चेष्टा की जाती है । आज सेवा की जाती है वोट पानेके लिये, अधिकार पानेके लिये, अपनेको नेतृत्वके आसनपर बैठाये जानेके लिये अथवा यों कहिये कि बहुत बड़ी सेवा करानेके लिये । इसीसे सेवा वस्तुत सेवा न होकर एक प्रकारकी धोखेबाजी या प्रवञ्चना हो गयी है । सेवामें सेवकभाव नहीं रहा, वर बहुतसे सेवक (अनुयायी या गुलाम) तैयार करनेकी दम्भपूर्ण लालसा आ गयी है । निर्मल सेवा तो प्राय. होती ही नहीं । वस्तुतः सेवा ही भक्ति है और उसका स्वरूप है—'सारी इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रियोंके स्वामी हृषीकेशका सेवन करना । उसमें कोई भी उपाधि नहीं होनी चाहिये और होनी चाहिये केवल परम सेव्य श्रीभगवान्‌की परायणता । तभी वह निर्मल सेवा होती है'—

> सर्वोपाधिविनिर्मुक्तस्तत्परत्वेन निर्मलः ।
> हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

ऐसी सेवा तभी हो सकती है, जब सेव्यके साथ सेवकका तादात्म्य हो जाय। जबतक सेवकका तथा सेव्यका स्वार्थ पृथक्-पृथक् है, तबतक अपनी सेवा होती है, सेव्यकी नहीं। देशसेवक वही है, जिसकी देशके साथ एकात्मता हो गयी हो। देशका हित ही जिसका हित, देशकी उन्नति ही जिसकी उन्नति, देशका जीवन ही जिसका जीवन और देशकी मृत्यु ही जिसका मरण हो; देशके और उसके स्वार्थमें न कोई विरोध हो और न व्यवधान हो। जो ऐसा हो, वही देशसेवक या देशभक्त है। सेवकका स्वार्थ है एकमात्र अपने सेव्यका सुख, सेव्यका हित। अपना पृथक् सुख या अपना हित अन्य कुछ है ही नहीं। हम शरणार्थियोंकी सेवा करना चाहते हैं, हम दुर्भिक्षपीड़ित अन्न-वस्त्रहीन नर-नारियोंकी सेवा करना चाहते हैं, परंतु जबतक हमारी अन्तरात्माका उनकी अन्तरात्माके साथ पूर्ण संयोग नहीं हो जाता, तबतक कुछ दिनोंतक हम किसी आवेशमें उनके लिये कुछ कार्य कर सकते हैं, परंतु कुछ ही दिनोंके बाद हमारा भिन्न स्वार्थ उनपर अहसान जताने लगेगा, उनकी कृतज्ञता चाहेगा और चाहेगा उनके द्वारा अपनी सेवा! और ऐसा नहीं होगा तो आजके हम वही सेवक, कल असुर बनकर उनका अनिष्ट करने लगेंगे। सेवा होनी चाहिये—सर्वथा अव्यभिचारिणी, स्वार्थशून्य, अनन्य और पवित्र। सेवाका फल बस, सेवा ही हो और सेवाका आनन्द भी सेवासे ही मिले। और कुछ चाहिये ही नहीं। भगवान् श्रीकपिलदेवजीने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

'मेरे सेवकोंको (सेवामें इतना आनन्द प्राप्त होता है) कि वे मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—ये पाँच प्रकारकी मुक्ति देनेपर भी नहीं लेते ।' (मेरी सेवा ही करते रहते हैं ।)

इस सेवामे न तो सेवक सेव्यका गुलाम है और न सेवा किये बिना उससे रहा ही जाता है । सेव्यके साथ उसकी इतनी एकात्मता है कि स्वभावसे ही वह उसको सुख पहुँचाकर स्वयं परम सुखका अनुभव करता है । सेवाका न विज्ञापन करता है, न बदला चाहता है । वह सहज सेवा करता है ।

इसी प्रकार सेव्य भी यदि सेवा ग्रहण करनेमें ही अपना गौरव समझता है और सदैव सेवा ग्रहण करनेके लिये सज-धजकर बैठा रहता है तो वहाँ भी यथार्थ सेवा नहीं होती । सेव्यके हृदयमें भी असलमें सेवकका सेवक बननेकी आकाङ्क्षा होनी चाहिये । उसकी भी सेवकके साथ ऐसी एकात्मता होनी चाहिये कि वह सेवकके सुखमें ही सुखका अनुभव करे । सेवा वस्तुतः बड़े ही महत्त्वकी वस्तु है । इसीसे सच्ची सेवाका फल बड़ा ही मधुर और अनिर्वचनीय होता है और उसे देते भी हैं अनिर्वचनीय मधुरातिमधुर श्रीभगवान् ही ।

(७२)

अपनी शक्ति-सामर्थ्यसे सदा सेवा करनी चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला था । उत्तरमें विलम्ब हो गया, इसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ । आपके प्रश्नके उत्तरमें निवेदन है कि हमलोगोंको जो कुछ भी मिला है, सब वस्तुत. भगवान्‌की

पूजाके लिये ही मिला है—इन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छासे भोग करनेके लिये नहीं। जो मनुष्य इस बातको समझकर प्राप्त वस्तुओंको यथायोग्य यथास्थान भगवान्‌की सेवामें लगाता है और अवशिष्टको प्रसादरूपमें ग्रहण करता है, वह तो मानवजीवनका कर्तव्य पालन करता है। जो ऐसा न करके अपने भोग-सुखमें ही सब वस्तुओंका उपयोग करता है, वह पापी है और पापका ही सेवन करता है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३। १३)

'यज्ञ (भगवान्‌की सेवा) से बचे हुए अन्नको खानेवाले—विश्वरूप भगवान्‌की सेवामें लगाकर बचे हुए पदार्थोंको अपने काममे लेनेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं, पर जो पापी मनुष्य केवल अपने शरीर-पोषणके लिये, अपने भोग-सुखके लिये पकाते (कमाते) हैं, वे तो पाप ही खाते हैं।'

जिसके पास अन्न, धन, जन, विद्या, बुद्धि, शक्ति-सामर्थ्य जो कुछ भी है, सबको भगवान्‌की सेवामें लगाना चाहिये। जहाँ अन्नका अभाव है, वहाँ भगवान् अन्नके द्वारा पूजा कराना चाहते हैं, जहाँ जलका अभाव है, वहाँ जल, जहाँ रोग फैला है, वहाँ चिकित्सा, औषध और सेवा, जहाँ वस्त्र नहीं है, वहाँ वस्त्र, जहाँ आश्रय नहीं है, वहाँ आश्रय, जहाँ भय है, वहाँ अभयद शरण, जहाँ अज्ञान है, वहाँ विद्या; जहाँ शक्तिका अभाव है, वहाँ शक्ति; जहाँ मार्गभ्रम है, वहाँ मार्ग-दर्शन; जहाँ दरिद्रता है, वहाँ धन, जहाँ असहाय अवस्था

है, वहाँ सहायता और जहाँ प्राणभय है, वहाँ प्राणरक्षा—इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थितियोंमें भगवान् ही भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होकर अपनी सेवा चाहते हैं और चाहते हैं उनसे, जिनके पास सेवाके योग्य पदार्थ या साधन हैं।

समुद्र-मन्थनके समय जब हलाहल विष निकला और उसकी तीव्र ज्वालासे सारा विश्व जलने लगा, तब देवताओंने सबकी रक्षाके लिये भगवान् श्रीशङ्करसे प्रार्थना की। भगवान् शङ्कर ऐसे हैं जो तीव्र-से-तीव्र विषको पीकर भी जगत्की रक्षा करनेमें समर्थ हैं। उस समय लोगोंकी दीनताको देखकर भगवान् शङ्करजीने पार्वती-जीसे कहा—

आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे।
एतावान् हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम्॥
प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः।
बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया॥
पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः।
प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः।
तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे॥
(श्रीमद्भा० ८। ७। ३८-४०)

'हे कल्याणि! ये बेचारे किसी प्रकार अपने प्राणोंकी रक्षा करना चाहते हैं। इस समय मेरे लिये यही कर्तव्य है कि मैं विष-पान करके इन्हे निर्भय कर दूँ। जिनके पास शक्ति-सामर्थ्य है, उनके जीवनकी इसीमें सार्थकता है कि वे दीन-दुखी प्राणियोंकी रक्षा करें। साधुपुरुष अपने क्षणभङ्गुर प्राणोंकी बलि देकर भी

दूसरे प्राणियोंके प्राणोंकी रक्षा करते हैं। अपने ही अज्ञानसे मोहित होकर लोग परस्परमें वैरकी गाँठ बाँधे बैठे हैं। ऐसे प्राणियोंपर जो कृपा करता है, सर्वात्मा भगवान् श्रीहरि उसपर प्रसन्न होते हैं और जब भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, तब चराचर जगत्के साथ मैं (शङ्कर) भी प्रसन्न हो जाता हूँ। अतएव इस भयानक विषको भक्षण करता हूँ, जिससे मेरी समस्त प्रजाका कल्याण हो।'

भगवान् शिवजीने ऐसा कहा ही नहीं, वे उस भयानक विषको पी गये। पर इससे उनकी कुछ हानि तो हुई ही नहीं, वरं वह विष उनका एक भूषण बन गया। विषकी ज्वालासे उनका कण्ठ नील हो गया। वर्णविरहित गौर शरीरमें नीलकण्ठकी विलक्षण शोभा हो गयी। वस्तुतः यह सत्य भी है, जो दूसरोंके हितके लिये जहरकी घूँट पी जाता है, उसका परिणाममें अहित कभी नहीं होता। असलमें पर-हित ही सच्चा अमृत है और पराया अहित ही भीषण विष है।

अतएव हमारे पास जो कुछ भी शक्ति-सामर्थ्य है, उसके द्वारा जहाँ जैसी आवश्यकता है—दीन-दुःखित अभावग्रस्त प्राणियोंके रूपमें प्रकट भगवान्की उनका हक समझकर सेवा करनी चाहिये। यह शक्ति-सामर्थ्य भी भगवान्की ही है और उन्हींसे हमें मिली है, अतएव यह अभिमान भी नहीं करना चाहिये कि हम किसीको कुछ दे रहे हैं। भगवान्की वस्तु भगवान्के काममें लग रही है और भगवान्ने इसमें हमें निमित्त बननेका गौरव दिया है, यह उनकी परम कृपा है, यों समझना चाहिये।

(७३)

सेवा और संयमसे सफलता

सादर हरिस्मरण । आपका कृपापत्र यथासमय मिल गया था । उत्तरमें बहुत देरी हो गयी, कृपया क्षमा करे । आपने अपनी जो पारिवारिक परिस्थिति लिखी है, वह अवश्य बहुत शोचनीय है । जिस अबला-को ससुराल और मैके दोनो ही जगह कलहका सामना करना पड़े, उसके आधार तो दीनदु खहारी श्रीहरि ही हो सकते हैं । आपको उन्हींका आश्रय लेना चाहिये । अपने पूर्व प्रारब्धके दोषसे ही जीवको ऐसी परिस्थितियोंका सामना करना पडता है । प्रारब्धका क्षय भोगसे ही होता है । अत· श्रीभगवान्‌का चिन्तन करते हुए इन सबको सहन करना चाहिये । व्यवहारमे तो सेवा और त्यागके सिवा इसका कोई और उपाय नहीं है, किंतु त्याग तो वही कर सकता है, जिसे श्रीभगवान्‌के सिवा धन, जन, बल आदि किसी भी बाह्य वस्तुकी सहायता अपेक्षित न हो । जबतक ससारके किसी भी सहारेकी आशा है, तबतक त्यागका मार्ग ग्रहण नहीं किया जा सकता । अत सेवा और सयमका ही आश्रय लेना चाहिये । अत सासु, पति एव माताजीके व्यवहारपर दृष्टि न देकर आप अपनी ओरसे उन्हें उत्तेजित होनेका कोई अवसर न दें, अपने सौजन्यसे उनमे आत्मीयताकी भावना जाग्रत् कर दे तथा उनके रुष्ट होनेपर सयमसे काम ले तो आपकी यह आपत्ति बहुत कुछ टल सकती है । सच्चा प्रेम सब प्रकारकी कुटिलताओंकी अचूक ओषधि है । श्रीभगवान् घटघटव्यापी हैं । जो लोग आपको तरह-तरहसे कष्ट पहुँचाते हैं, उनके अन्त करणोंमें

भी प्रेरकरूपसे श्रीभगवान् ही विराजमान हैं। इन कुटिलताओंके द्वारा वे आपके धैर्य और संयमकी परीक्षा कर रहे हैं। यदि इनमें भी आप उनके मङ्गलमय विधानकी झाँकी करके उनके प्रति आन्तरिक प्रेम और श्रद्धामें कमी न आने दें और उत्साहपूर्वक उनकी यथोचित सेवा-शुश्रूषामें तत्पर रह सकें तो एक दिन वे अवश्य आपके प्रति अपने करुणापूर्ण भण्डारका द्वार खोल देंगे और आप उनकी अपार अनुकम्पासे अनुगृहीत होकर अपनेको कृतकृत्य हुई देखेंगी।

और अधिक क्या लिखा जाय। इस विषयमें तो भगवत्कृपासे प्राप्त हुई अवसरोचित बुद्धि ही आपकी विशेष सहायता कर सकती है। अतः आप श्रीभगवान्‌का ही आश्रय लें।

आप विपत्तिनाशके लिये जहाँतक याद रहे, दिन-रात मन-ही-मन 'हरिः शरणम्' इस मन्त्रका जप करती रहें और श्रीभगवान्‌से यह प्रार्थना करें कि जिससे सबकी बुद्धि निर्मल हो और सब परस्पर एक दूसरेको सुख पहुँचावें।

(७४)

दुखियोंकी सेवामें भगवत्सेवा

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार जाने। जगत्‌में इस समय अभाव बहुत बढ़ रहा है। जितना ही अभाव बढ़ेगा, उतना ही दुःख भी बढ़ेगा। अभावमें प्रतिकूलताका बोध होता है और प्रतिकूलता ही दुःख है। किसीके दुःखमें सहानुभूति-के साथ सहायता करना मनुष्यका परम कर्तव्य है। किसका दुःख किस प्रकारका है, इसका अनुभव उसीको है, जो उस दुःखसे ग्रस्त

है। उपदेश देना बहुत सहज है, पर अपने ऊपर दु ख पडनेपर कैसी दशा होती है और उस अवस्थामे उपदेशके अनुसार कितना कार्य होता है, इसका पता दु'ख पडनेपर ही लगता है। यह सत्य है कि दुःख-सुख हमारे अपने ही पूर्वकृत कर्मोंके फल हैं, परतु दु.खमे पडे हुए मनुष्यको उसके दुष्कर्मका फल बतलाकर उसकी उपेक्षा करना कदापि उचित नहीं, ऐसा करना स्वय वस्तुत. एक बडा दुष्कर्म है। दुखी व्यक्तिको देखकर तो हमें अपनी शक्ति-सामर्थ्य-के अनुसार उसकी सेवा-सहायता ही करनी चाहिये।

मान लीजिये—एक गरीब-परिवार है, एक पुरुष है, स्त्री तथा बच्चे हैं। पासमे पैसे नहीं हैं, पुरुष बीमार पडा है, स्त्री भी रुग्णा है, उनके लिये दवा और सेवाकी आवश्यकता है, बच्चे भूखके मारे बिलबिला रहे हैं। बच्चोंकी दुर्दशा और अपनी असहाय दशाको देखकर दोनों स्त्री-पुरुषोंके हृदय फटे जा रहे हैं। ऐसी अवस्थामें कोई जाकर उन्हें कर्मका कोरा उपदेश करने लगे तो उससे न तो उनका दु ख घटता है और न उपदेश देनेवालेका कर्तव्य ही पूरा होता है। ऐसी अवस्थामें तो यथासाध्य अन्न, औषध और सेवाकी सुव्यवस्था होनी चाहिये। इसी प्रकार दु खोंकी अन्यान्य अवस्थाओंमें भी जब मनुष्य असहाय और आधारहीन हो जाता है, तब उसे क्रियात्मक सहानुभूति करनेवालोकी आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता-की पूर्ति जो पुरुष अपना तन, मन, धन लगाकर स्वान्त.सुखाय करते हैं और सेवा या सहायताका तनिक भी अभिमान न करके सेवाके सुअवसर दानके लिये भगवान्‌के कृतज्ञ होते हैं, वे सचमुच बडे ही भाग्यवान् हैं।

आपने धन लगानेके सम्बन्धमे पूछा, सो मेरी रायमें आपको निम्नलिखित कार्योंमे धनका सद्व्यय करना चाहिये—

१. सदाचारिणी अनाथ विधवाओंकी सहायता।

२. असहाय और निरुपाय परिस्थितिमें पडे हुए भद्र परिवारोकी सहायता।

३ ऋणके भारसे दवे हुए ईमानदार व्यक्तियोंकी सहायता।

४. असहाय और धनहीन रोगियोकी सहायता।

इन लोगोकी सेवा, सहायतामे धनव्यय करना धनका सच्चा सदुपयोग है; परतु न तो सहायताकी दूकान खोलकर उसका विज्ञापन करना चाहिये, न किसी सहायता पानेवालेको अपनेसे किसी प्रकार नीचा मानना चाहिये तथा न उसपर अहसान ही करना चाहिये। सेवा सर्वोत्तम वह है, जिसका पता उसको भी न लगे, जिसकी सेवा की गयी हो। नहीं तो, सेवा करनेवाले और करानेवाले इन दोके सिवा अन्य किसीको तो पता लगना ही नहीं चाहिये, सेवामे ऐसा बर्ताव—व्यवहार कभी नही करना चाहिये, जिससे सेवा करानेवालेको सङ्कोचमे पड़ना पडे, उसे अपनी असहायावस्थामे सेवा स्वीकार करनेकी मजबूरीपर दु.ख हो और वह उसे आत्माका पतन समझे। सेवा करके जो किसीकी आत्माको गिराता या नीचा दिखाता है, वह तो सेवाका दुरुपयोग ही करता है।

आजकल गो-जातिपर बड़ा सङ्कट है। अतएव भूखी गायोंके लिये चारेकी व्यवस्था करनेमे धनव्यय करना भी बहुत उत्तम है। फिर इस समय तो पाकिस्तानसे भागकर आये हुए हमारे लाखों भाई-बहिन बड़ी विपन्न अवस्थामें हैं। वे सब प्रकारसे हमारी सेवाके

पात्र है । सच्ची सहानुभूति, कर्तव्यनिष्ठा और उल्लासके साथ उनकी सेवा करनी चाहिये और इस सेवाको भगवान्‌के अर्पण—भगवत्प्रीत्यर्थ ही करना चाहिये । असलमें सब कुछ भगवान्‌का ही है और सेव्यके रूपमे भगवान् ही सेवा स्वीकार करते हैं । भगवान्‌की वस्तुसे भगवान्‌की सेवा करनेमें हम जो निमित्त बनते हैं, यह हमारा सौभाग्य है और इन सयोगकी प्राप्ति करा देनेके लिये हमें भगवान्‌का कृतज्ञ होना चाहिये । विशेष भगवत्कृपा ।

(७५)

कुछ प्रश्नोत्तर

सप्रेम हरिस्मरण । आपके पत्रका उत्तर विलम्बसे जा रहा है, कृपया क्षमा करें ।

१—आपने 'जीवात्मा और परमात्मामे क्या भेद है ?' यह प्रश्न किया है । अत भेदका दिग्दर्शन कराया जाता है । यद्यपि इसके पहले यह भी प्रश्न होता है कि 'भेद है या नहीं ?' कुछ विद्वान् भेद मानते हैं, कुछ अभेद । दोनों ही विचारोंका मूल वेदादि ग्रन्थोंमे उपलब्ध होता है । दृष्टिभेदसे दोनो ही मत ठीक हैं । फिर भी आपके प्रश्नसे इसका सम्बन्ध नहीं है । आपने भेद मानकर प्रश्न किया है । अतः उत्तरमें निवेदन है कि ईश्वर और जीव दोनों ही चेतन, आनन्द-स्वरूप और अविनाशी हैं । अन्तर इतना ही है कि जीव अंश है और ईश्वर अंशी । जीव परतन्त्र है और ईश्वर स्वतन्त्र । जीव दास है और ईश्वर स्वामी । जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ । जीवकी शक्ति सीमित है और ईश्वरकी असीम । जीव मायाके अधीन है और

ईश्वर मायाके अधिपति। जीव अपनेको, मायाको तथा ईश्वरको भी नहीं जानता और ईश्वर सबके ज्ञाता, प्रेरक तथा बन्धन-मोक्षके देनेवाले हैं। ईश्वर एक है और जीव अनेक। ईश्वर परम महान् है और जीव अणु। जीव कर्मोंके अधीन हो मृत्युके चक्करमे पडता है और ईश्वर अजन्मा तथा अव्ययात्मा है। इस प्रकार जीव और ईश्वरमें भारी भेद है।

२—ससार असत्य है, क्षणभङ्गुर है। सत्य वही है जो सदा सब समयमें मौजूद रहे, जिसका कभी अभाव न हो। संसारकी कोई भी वस्तु स्थिर नहीं, सब नाशवान् हैं। ससारकी उत्पत्ति और लय देखे जाते हैं, अत. वह इस रूपमें कभी सत्य नहीं हो सकता। 'अव्यक्तादीनि' आदि कहकर भगवान्‌ने इसी तत्त्वकी ओर संकेत किया है। जो आदि और अन्तमे नहीं, उसे वर्तमानमे भी वैसा ही जानना चाहिये। सत्य वही है, जिसका भूत, वर्तमान, भविष्य—तीनों कालोंमें अभाव न हो। ससार ऐसा नहीं है। इसलिये वह असत्य ही है।

३—'अज्ञात चेतना' का अर्थ पूछा सो अज्ञात वह है जिसका ज्ञान न हुआ हो और चेतना कहते हैं चैतन्य-शक्ति या ज्ञानशक्तिको। चेतना शब्द मन-बुद्धिका पर्याय भी माना गया है। जो बात मनमें हमें प्रत्यक्ष होती है, वह ज्ञात चेतनामे है, और जो मनमें छिपी है, वह अज्ञात चेतनामें है। अग्रेजीमे ज्ञात चेतनाको Conscious और अज्ञात चेतनाको Sub-Conscious कहते हैं।

४—गीताका पाठ पहले आप 'गीतातत्त्वाङ्क'में बतायी हुई विधिसे करते थे, अब पुस्तक खो जानेसे वैसे ही कर लेते हैं सो इसमें

कोई हर्ज नहीं है। गीताका पाठ बहुत ही उत्तम है, जैसे भी हो, होना चाहिये, उसे बद नहीं करना चाहिये। यह चेष्टा रखनी चाहिये कि पाठ करते समय भगवान्‌का ध्यान हो, अर्थका भी अनुसन्धान होता रहे और पाठमे पूर्ण श्रद्धा बनी रहे। साथ ही गीताके उपदेशानुसार जीवन बनानेका भी प्रयत्न किया जाय।

५—अहिंसा और सत्य दोनों बडे हैं, दोनोंका स्थान ऊँचा है। इनमें एक दूसरेसे छोटा नहीं है। दोनोका बड़ा महत्त्व है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर सत्य और अहिंसामें कोई भेद नहीं है। सत्यमें अहिंसाकी और अहिंसामे सत्यकी प्रतिष्ठा है। जो मनसा, वाचा, कर्मणा सत्यका पालन करनेवाला है, उसमे अहिंसा आदि सद्गुण स्वभावतः स्थित रहते हैं। इसी प्रकार जो मन, वाणी ओर क्रियाद्वारा अहिंसक है, वह कभी असत्यवादी नहीं हो सकता।

६—बाली और सुग्रीव समानरूपसे अपराधी नहीं थे। बाली तो स्पष्ट ही अन्यायी था। उसने भाईके नाते जो उसे मारकर घरसे बाहर निकाल दिया और उसकी धन-सम्पत्ति तथा स्त्रीपर भी अधिकार कर लिया, यह उसका पाप था और पापके कारण वह वध एवं दण्डके योग्य था। भगवान्‌ने उसके पापका स्पष्टीकरण भी कर दिया है—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥

—वह पहले भगवान्‌से विमुख भी था।

सुग्रीवकी स्थिति उससे सर्वथा भिन्न थी। बालीके मरनेपर सुग्रीव सब कुछ छोड़कर भजन करनेको तैयार था—

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

—किंतु भगवान्‌ने भक्तवत्सलताके कारण सुग्रीवको स्वेच्छासे राजपदपर प्रतिष्ठित किया था। महारानीके पदपर ताराका ही अभिषेक हुआ। ताराको यह वर प्राप्त था कि पतिके परम धाम पधारनेपर भी वह कुमारी ही मानी जायगी। इसीलिये उसे पञ्च-कन्याओंमें गिना जाता है। सुग्रीव और ताराका सम्बन्ध वानर-जाति-की कुल-प्रथा एवं भगवान्‌की आज्ञासे अनुमोदित था। उसने ताराके साथ बलात्कार नहीं किया था। भगवान्‌का यह कार्य पक्षपात नहीं, भक्तवत्सलतासे प्रेरित था। वे भक्तोंका हृदय देखते हैं, कर्तव्यकी चूक नहीं—'रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥' जैसे कल्पवृक्ष सबको समानरूपसे छाया एवं मनोवाञ्छित पदार्थ देता है तथापि उससे वही लाभ उठाता है, जो उसकी छायामें जाता है। उसी प्रकार भगवान्‌की सबपर समानरूपसे दया है, फिर भी उस दयाका लाभ भगवद्विमुखको नहीं मिल पाता। भगवान्‌की शरणमें गये हुए भक्त ही उस दयासे लाभान्वित होते हैं। जो सूर्यकी किरणोंके उदय होनेपर भी खिड़कीका कपाट बंद किये हुए है तथा काला पर्दा डाले हुए है, उसके घरमें प्रकाश कैसे होगा? इसी प्रकार जो भगवान्‌की बरसती हुई दयाकी ओरसे उदासीन हैं, उसे रोकनेके लिये पापरूपी छत्र ताने बैठे हैं, वे अपने ही दोषके कारण वञ्चित होते हैं। इसमें प्रभुका पक्षपात या द्वेष कारण नहीं है। भगवान् तो स्पष्ट कहते हैं—

'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।'

'समदरसी मोहि कह सब कोई। सेवक प्रिय अनन्य गति सोई॥'

७—आपका कहना है, 'भगवद्भक्त ही अधिक दुखी देखे जाते

हैं, ऐसा क्यों ?' पहली बात तो यह है कि भगवद्भक्तोंको ही अधिक दुखी देखनेवाले हम-जैसे लोग ही है, जिन्हें दुःख-सुख या दुखी-सुखीकी वास्तविक पहचान ही नहीं है। जो वास्तवमें भगवद्भक्त हैं, उनके लिये तो दुःख भी सुख हो जाता है। वे उसमें भी भगवान्‌की दिव्य आनन्दमयी झाँकी करते हैं। संसारी जीव दुःखोसे डरते हैं, भागना चाहते हैं, किंतु भक्तपुरुष दुःखोंका आवाहन करते हैं—'विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।' इसलिये नहीं कि दुःख कोई बहुत अच्छी चीज है, बल्कि इसलिये कि दुःखमे भगवान्‌का स्मरण अधिक होता है। भक्तके लिये एक ही दुःख है—भगवान्‌का विस्मरण होना, उन्हे भूल जाना, और एक ही सुख है—उनका स्मरण होना।

विपदो विपदो नैव सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥
कह हनुमान बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

आर्थिक दृष्टिसे या शारीरिक दृष्टिसे जो भी दुःख आते है, वे सब प्रारब्धके भोग हैं। अपने ही बुरे कर्मोंके फल हैं। वे भक्त और अभक्त दोनोपर आते हैं। अभक्त रो-रोकर उन्हे भोगता है। भक्त उनमे भी भगवान्‌की झाँकी पाकर प्रसन्न रहता है। समर्थ भक्त चाहे तो अपने दुःखको दबा सकता है, प्रारब्धके वेगको भी पलट सकता है। जिसको भगवान्‌का सहारा प्राप्त है, वह क्या नहीं कर सकता ? तथापि वह ऐसा नहीं करता, करना चाहता भी नहीं। वह भगवान्‌का भजन लौकिक स्वार्थकी सिद्धिके लिये नहीं करता। वह अपना तन, मन, जीवन सब कुछ भगवान्‌के लिये अर्पण कर

देता है। भगवान् उससे यदि कुछ सुख प्राप्त कर सके तो कर लें। वह भगवान्‌के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहता। स्वर्ग, नरक सब सहनेको वह तैयार है, किंतु भगवान्‌का चिन्तन न छूटे—

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

भगवद्भक्त सुख-दु.खसे परे होता है। वह भक्तिके राजमार्गपर जितना ही बढ़ता है, उतना ही सुख और आनन्दमे मग्न होता जाता है। दु:ख तो उसकी छायाको भी नहीं छू सकते। भगवद्भक्त निर्धन और अकिञ्चन हो सकता है, रोगसे ग्रस्त हो सकता है, तिरस्कृत हो सकता है, वस्त्रके बिना नंगा रह सकता है। यह दुनियावी लोगोंके लिये दु:खकी बात है, किन्तु भक्त इन ऊपरी दु.खोसे ऊपर उठकर उस धरातल-में पहुँचा होता है, जहाँ इनका उसके मनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दु:ख-सुखका वास्तविक सम्बन्ध मनसे है, भक्तका मन सदा सुखस्वरूप परमात्मामे लगा रहता है। अत. लौकिक दु:ख छू भी नहीं सकते।

८—भक्ति और ज्ञान दोनो ही श्रेष्ठ है। भक्तिका साधन सुगम और ज्ञानका कठिन है। इस दृष्टिसे यदि किसीको श्रेष्ठ कहा जाय तो वह भक्ति ही है।

९—भगवान्‌की अमृतमयी कथाओको प्रेमपूर्वक सुनना, पढ़ना और मनन करना, भगवान्‌के नाम, गुण और लीलाओंका कीर्तन करते रहना, भगवद्भक्तोका सग और सेवन करना, मन, वाणी और शरीरसे भगवान्‌की सेवामें सलग्न रहना; सब प्राणियोंमें भगवान्‌को

देखना और भगवान्‌के लिये सर्वस्व त्याग देना—ये सभी भगवान्‌की प्राप्ति और उनकी प्रसन्नताके साधन है। सबसे मुख्य साधन हैं—(१) भगवान्‌की कृपा तथा दयापर विश्वास करके सर्वथा उनपर निर्भर हो रहना। (२) भगवान्‌से मिलनेके लिये हृदयमे तीव्र एकान्त लालसाका जग जाना। भगवान्‌के लिये हृदयमें जितनी ही व्याकुलता बढेगी, उतनी ही शीघ्र उनकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् किसी साधनके वशमे नहीं हैं, वे दर्शन देते हैं अपनी सहज कृपासे ही। साधनके द्वारा तो मनुष्य अपनेको अधिकारीमात्र बनानेकी चेष्टा करता है। शेष भगवत्कृपा।

(७६)

कुछ आध्यात्मिक प्रश्न

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद। उत्तरमे कुछ विलम्ब हो गया है, कृपया क्षमा करेंगे। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

१—४ जिसकी सहायतासे कार्य किया जाय उसे करण कहते हैं। क्रियाकी सिद्धिमें अत्यन्त उपकारक वस्तुका नाम करण है। जैसे लोहार कर्ता है तो औजार उसका करण है। कर्ता और करणसे भौतिक जगत्‌का कार्य चलता है। आध्यात्मिक जगत्‌में भी कर्ता और करणसे ही सब कार्य होते हैं। यहाँ कर्ता जीवात्मा है और करण इन्द्रियाँ। जैसे देखनेकी क्रिया करते समय द्रष्टा तो जीवात्मा है और

उसके दर्शनरूप कार्यमें सहायता देनेवाला करण है नेत्र। इसी प्रकार सुनने, बोलने, चलने आदिमें भी कर्ता जीवात्मा है और श्रवण, वाक् तथा पाद आदि इन्द्रियाँ करण हैं। इनके दो भेद हैं—कर्म-इन्द्रिय और ज्ञान-इन्द्रिय। जिनसे स्थूल क्रियामात्र होती है, वे कर्मेन्द्रिय हैं, जैसे हाथ, पैर, गुदा, लिङ्ग और वाक्। जिनसे कुछ ज्ञान होता है, वे ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जैसे नेत्र, रसना, घ्राण, श्रवण, त्वचा। इनके द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शका अनुभव होता है। करणोंके भी दो भेद हैं—बाह्यकरण और अन्तःकरण। पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ये बाह्यकरण हैं; क्योंकि इनसे बाहर-की क्रिया तथा बाहरके ही विषयोंका अनुभव होता है। जिस इन्द्रियसे भीतर-ही-भीतर अनुभव तथा मनन आदिकी क्रिया हो, उसे अन्तःकरण कहते हैं। इसके चार भेद हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार। किसी वस्तुको देखने, सुनने अथवा पढ़नेके बाद जो मननकी क्रिया होती है, उसका करण 'मन' है। इसे संकल्प और विकल्पका भी आधार माना गया है। संदेह, संशय आदि भाव मनमें ही उठते हैं। मनके ऊपर बुद्धि है, इसके द्वारा पदार्थका निश्चयात्मक ज्ञान होता है। मनका स्वभाव संदेह—संकल्प-विकल्प करना है और बुद्धिका काम निश्चय करना है। यही मन और बुद्धिमें अन्तर है। मन संदेहके चक्करमें पड़कर चञ्चल हो उठता है। उस समय बुद्धि तर्क और युक्तियोंसे विचार करके एक निश्चय उपस्थित करती है। इससे मनका भी संशय मिट जानेसे वह स्थिर हो जाता है। यही बुद्धिके द्वारा मनका संयम है। इसी तरह बुद्धि मनको वशमें करती है, क्योंकि जहाँ मनकी पहुँच नहीं है, वहाँ भी बुद्धि काम करती है। इसीलिये

कहा गया है—'मनसस्तु परा बुद्धि ।' अन्त करणमे जो 'अहम्-अहम्' (मैं-मैं) का अभिमान उठता है, यही अहङ्कारकी वृत्ति है । तथा जिस वृत्तिके द्वारा अपने अभीष्टका चिन्तन और स्मरण होता है, उसीका नाम चित्त है । इन चारोंको अन्त करण कहते हैं । इसीका नाम हृदय भी है । हृदय वह प्रदेश या स्थल है, जहाँ अन्तःकरणकी ये चारों वृत्तियाँ काम करती हैं । इनका कोई स्थूल रूप नहीं, ये सभी सूक्ष्म वृत्तियाँ हैं । हृदयाकाशमें ही अन्तःकरणका कार्य होता है । हृदयके मध्यभागमें कमलका चिन्तन किया जाता है, उसकी कर्णिकामें इष्टदेवका आसन है, वहीं विराजमान इष्टदेवका चिन्तन या ध्यान किया जाता है । वह कर्णिका चित्त-स्थानमें है । वहीं विज्ञानमय कोष है, जहाँ ज्ञानीलोग ब्रह्मका चिन्तन करते हैं । हृदय और कलेजामें बहुत अन्तर है । हृदय आकाशकी भाँति शून्य है, उसकी वृत्तियाँ सूक्ष्म हैं और कलेजा स्थूल ।

५ अन्त करणके तीन दोष हैं—मल, विक्षेप और आवरण । भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये निष्काम भावसे शुभ शास्त्रोक्त कर्म करनेसे तथा भगवन्नामजप एवं भजन करनेसे मल दोषका नाश होता है, भगवान्‌का ध्यान करनेसे विक्षेप दूर होता है और महापुरुषोंका सत्सङ्ग करनेसे भगवत्तत्त्वका ज्ञान होकर आवरणकी निवृत्ति होती है । भगवान्‌के नामका जप, भगवान्‌का ध्यान, सत्सङ्ग और भगवान्‌के तत्त्वका चिन्तन—ये सब अन्त करणकी शुद्धिके उपाय हैं । शेष भगवान्‌की दया ।

(७७)

कुछ पारमार्थिक प्रश्नोत्तर

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला था। उत्तरमे अधिक विलम्ब हो गया। कार्याधिक्यके कारण ऐसा प्राय: हो जाया करता है। कृपया क्षमा करेंगे। आपके प्रश्नोका उत्तर इस प्रकार है—

१—यह बिल्कुल ठीक है कि मनुष्य कर्म करनेमे स्वतन्त्र और फल भोगनेमे परतन्त्र है। बडे-बडे पुण्यात्मा महात्माओके व्याधिग्रस्त होनेकी जो बात सुनी जाती है, उसमे इस सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं आती। उनके द्वारा पूर्वजन्मोंमे कुछ ऐसे कर्म बन गये होगे, जो इस जन्ममे प्रारब्ध बनकर कष्टकारक हुए। कर्मका रहस्य बडा विचित्र है, वह जल्दी समझमें नहीं आता। गीता भी कहती है—'गहना कर्मणो गतिः।' (४।१७) कुछ पुण्य और पाप ऐसे हैं, जो पृथक्-पृथक् स्वतन्त्ररूपमे भोगे जाते हैं। जैसे राजा नृगने दानका फल अलग भोगा और एक बार दी हुई गौको पुन दान करनेके अपराधसे जो पाप बन गया, उसको उन्होंने गिरगिट होकर अलग भोगा। कुछ पुण्य ऐसे हैं, जो पापका नाश करते हैं। इसी प्रकार कुछ पाप भी ऐसे होते हैं, जो प्रबल होकर पुण्यको निष्फल अथवा क्षीण कर देते हैं, जैसे अतिथिका अपमान करनेवालोको अपने पहलेके पुण्यसे हाथ धोना पडता है आदि।

जो शुभ या अशुभ कर्म प्रारब्ध बनकर फल देनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं, उनके सिवा अन्य सारे कर्म अपने विरोधी प्रबल कर्मके द्वारा दब जाते हैं। फलदानोन्मुख प्रारब्ध भोगनेसे ही समाप्त होता है। हाँ, यदि कोई अत्यन्त प्रबलतम कर्म बन जाय तो वह प्रारब्धकी गति-

को भी रोकनेमे समर्थ हो जाता है । यदि हम क्रोधमे आकर किसी-पर बाण चला दे, उसके बाद तुरत ही दया आ जानेके कारण यदि हम उसे मारना न भी चाहें तो भी अब छूटा हुआ बाण वापस नहीं लौट सकता । हाँ, उस दयाके प्रभावसे अब हम क्रोधजनित नवीन पापकर्म नहीं कर सकेंगे । प्रारब्धकर्म छूटे हुए बाणके समान है । आज जो पुण्य बनेगा, उसका प्रभाव भावी जीवनपर पडेगा । जो जीवन मिला है, वह पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है । अत आज यदि हम किसी पुण्यात्माको दुखी और पापीको सुखी देखें तो उसमे इस जीवनके कर्मका सम्बन्ध नहीं जोडना चाहिये । जैसे अपने ऊपर चलाये हुए बाणके प्रहारको भी चतुर और सावधान मनुष्य रण-कौशलसे विफल कर देता है, उसी प्रकार प्रबलतम पुण्यके कवचसे दुष्ट प्रारब्धरूपी बाणका प्रहार भी असफल किया जा सकता है । उच्च कोटिके महात्मा पुरुष तो दयावश दूसरे जीवोंके दु खरूप प्रारब्धको भी स्वय ग्रहण करके उसे स्वेच्छासे भोग लेते हैं । ऐसा देखा-सुना गया है । साथ ही, महात्मा पुरुषोंमे या तो भोक्तापन ही नहीं होता या वे अपने प्रत्येक भोगको भगवान्‌का मङ्गल विधान मान-कर प्रतिक्षण भगवान्‌का सस्पर्श प्राप्तकर आनन्दमग्न रहा करते है । उनके महत्त्वको न जाननेवाले साधारण लोग उन्हें दुखी-सुखी मानते हैं । वस्तुत उनपर उस दु ख-सुखका कोई प्रभाव नहीं रहता । वे भीतरसे दोनो ही अवस्थाओमे सम एव निर्लिप्त रहते है ।

'वैशाख शुक्लपक्षकी मोहिनी एकादशी पहाडके समान बडे-बडे पापोंका विनाश कर देती है', इस कथनमे अत्युक्ति नहीं है । सभी एकादशियोंका ऐसा ही प्रभाव है । इस व्रतको करनेवाले लोग

भी यदि दुःख, शोक और व्याधिसे पीडित देखे जाते हैं तो उसका अर्थ यह नहीं कि उनके पापका नाश नहीं हुआ। इस जन्मके और अन्य जन्मोंके अनेकों सञ्चित पापकर्म अवश्य ही नष्ट होते हैं। दुःख, शोक और व्याधि तो उन कर्मोंके फल हैं, जो प्रबल प्रारब्ध बनकर कष्ट दे रहे है। उनको दबाने लायक कोई प्रबल पुरुषार्थ नहीं हुआ रहता है। इसलिये उनका फल भोगना ही पड़ता है। व्रत आदिके द्वारा प्राय सञ्चित पापकर्मोंका ही नाश होता है।

२—'सकृदेव प्रपन्नाय'—इस श्लोकके अनुसार जो एक बार भी 'भगवन्! मैं तुम्हारा हूँ' यह कहकर भगवान्‌के शरणागत हो जाता है, उसे भगवान् सब ओरसे निर्भय कर देते हैं। यह प्रभु-प्रतिज्ञा अक्षरशः सत्य है। भगवत्-शरणागतको केवल अभय-प्राप्तिके लिये ही नहीं, किसी भी वस्तुके लिये कोई अन्य साधन करनेकी आवश्यकता नहीं है। शरणागति स्वय सब साधनोंकी सम्राज्ञी है। इतनेपर भी मनुष्यका मन, जो प्रभुकी ओर नहीं जाता, विषयोंकी ओर ही दौडता है, इसमें कारण है विषयोंके प्रति उसकी घोर आसक्ति। इस आसक्तिसे जिसका अन्त करण आच्छन्न है, उसके मनमे प्रभु और उनकी शरणागतिका विचार भी नही उठ सकता। फिर वह निर्भय कैसे हो? वह तो विषयभोगोके सामने स्वय ही प्रभुकी उपेक्षा कर देता है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रभु-कृपासे सभी कुछ सम्भव है। आसक्तिका मिटना, प्रभुमें विश्वास होना, सच्ची शरणागति ग्रहण करना आदि सब कुछ प्रभु-कृपासे साध्य है और प्रभुकी कृपा सब जीवोंपर निरन्तर बरसती रहती है तथापि विषयासक्त जीव उससे लाभ नहीं उठा पाता। मेघ कितनी ही जीवनमयी रसधारा क्यों न

बरसाये, जो अपने ऊपर विशाल छाता लगाये बैठा है, उसपर उस रसका क्या प्रभाव पड़ेगा। यही दशा विषयासक्तकी है। विषयासक्तिके आवरणमे ही वह प्रभु-कृपासे वञ्चित रह जाता है। यदि किसी पूर्व पुण्यके उदय होनेसे वह अपनी गयी-बीती स्थितिका अनुभव करके भगवान्‌के सामने अपना हृदय खोलकर रोये और पुकार-पुकार कहे, 'भगवन्! मै विषयोंके अगाध समुद्रमे डूब रहा हूँ, तुम स्वयं बाँह पकड़कर उबार लो। मुझमे कोई बल, कोई साधन और कोई योग्यता नहीं, सब कुछ तुम्हीं करो नाथ! ले लो मुझ पतितको अपने परम पावन चरणोंकी शरणमे।' इस प्रकार सच्चे मनसे प्रार्थना करनेपर भगवान् सब कुछ स्वयं करते और सँभालते हैं। एक बार उसमें शरणागतिकी इच्छा तो जगे। कर्म करनेमें स्वतन्त्र कहलानेवाला मानव जब शरणमें आना चाहेगा तभी तो भगवान् उसे शरणमें लेंगे, अन्यथा यदि वह विषयोंकी ओर जानेका इच्छुक हो तो उसकी इच्छामें बाधा डालकर भगवान् उसकी कर्मविषयक स्वतन्त्रतामे बाधक कैसे बनेंगे? भगवान् तो बुलाते हैं—'सारी चिन्ताएँ छोड़कर, सब धर्मोंका आश्रय-भरोसा त्यागकर केवल एक मेरी शरण आ जाओ। चिन्ता न करो। मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा।' इतनेपर भी भाग्यहीन मनुष्य प्रभुकी ओर नहीं जाता। वे आलिङ्गनके लिये बाँहें फैलाये हुए राह देखते हैं, किन्तु अभागा जीव उनकी छातीसे लगना ही नहीं चाहता। उसे नरकके कीटकी भाँति विषयोंके कीचड़में ही सुखकी अनुभूति होती है। आवश्यकता है भगवान्‌की ओर जानेकी, उनसे मिलनेके लिये उत्सुक होनेकी, फिर तो हम एक पग चलेंगे तो भगवान् अनन्त पग चलकर हमे अपने भुजपाशोंमें कस लेंगे,

क्योंकि जीव अपनी शक्तिसे भगवान्‌को पानेकी चेष्टा करता है तो अनन्तशक्ति सत्यसंकल्प भगवान्—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' के अनुसार अपनी शक्तिसे उससे मिलनेकी चेष्टा करते हैं। फिर मिलनेमें क्या देर लगेगी। चींटी चलेगी अपनी चाल, तो गरुड़ चलेंगे अपनी चाल। इसी प्रकार जब भगवान् स्वयं चाहेंगे तो जीवको क्या उनकी प्राप्तिमें कभी विलम्ब हो सकता है?

३—'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय' अथवा 'पुरुष एवेदᳪ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' किंवा 'वासुदेवः सर्वम्'—इस सत्यको हृदयङ्गम कर लेना ही वास्तविक पुरुषार्थ है। फिर तो कुछ करना या पाना शेष नहीं रह जाता। इसकी साधनामें बाधक होता है रागद्वेष-जनित वैषम्य अथवा स्वकीय-परकीय भाव। यह वैषम्य अथवा भाव अपने मनमें ही है। अपने मनकी ही विषमता या दुर्भावना हमें अन्यत्र दिखायी देती है। स्त्री, शत्रु, अन्त्यज, विरोधी, निन्दक या अहितकारी—इनमें प्रभुभाव रखनेकी युक्ति वही है जो विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, कुत्ते और चाण्डालमें समदृष्टि रखनेकी है। ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता आदि सभी एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, इनमें आकार-प्रकार, खान-पान, व्यवहार-बर्ताव आदिमें कोई भी साम्य नहीं है। हाथीकी सवारी होगी, कुत्तेकी नहीं। गौका दूध पीया जायगा, कुतियाका नहीं। सारांश यह कि इन सबके साथ एक-सा बर्ताव होना कदापि सम्भव नहीं है। फिर वह समदृष्टि क्या है, जिसको गीता सिखाती है। वह है—'उन सबमें समानरूपसे सदा-सर्वदा एकरस स्थित परमेश्वरका दर्शन करना।' ब्राह्मण, गौ आदिमें परस्पर अत्यन्त वैरूप्य होते हुए भी उनमें एक ही परमात्माका नित्य निवास

है । अतः सभी हमारे आदर एवं सहयोगके पात्र है । व्यवहार उन सबके साथ पृथक्-पृथक् होगा । हाथीरूपमे आये हुए भगवान्को पहचानकर मन-ही-मन उन्हे प्रणाम करना तथा उनके स्वरूपके अनुसार भोजन आदिकी व्यवस्था करके उन्हे सन्तुष्ट रखना यह तो उनकी पूजा है । व्यवहारमें आवश्यकता पडनेपर उनपर सवारी की जा सकती है, क्योंकि इसीमें उस स्वाँगकी सफलता है । नाटकमें कभी मालिक दासका और दास मालिकका पार्ट करता है । वहाँ दासरूपमे आये हुए मालिकके साथ दासोचित वर्ताव करनेमे ही अभिनयकी सफलता है । इसी प्रकार जिस रूपमें भगवान् हमारे सामने आवे, उस रूपके उसी वेषके अनुरूप तो उनके साथ व्यवहार किया जाय और मन-ही-मन उन्हे असली रूपमे पहचानकर उन्हें सुखी एव प्रसन्न करनेकी चेष्टा की जाय । जैसे अपनेको सुख प्रिय और दु ख अप्रिय है, वैसे ही सबको है । यह समझकर सबको सुख पहुँचानेकी चेष्टा हो और सभीके दु खोका निवारण किया जाय । कभी किसीको दुःख न पहुँचने दिया जाय । यही समदृष्टि है ।

जिसको हम शत्रु या विरोधी मानते हैं, वह स्वरूपसे न शत्रु है, न विरोधी । यदि वस्तुत. यही उसका स्वरूप होता तो सभीको वह शत्रुरूपमे प्रतीत होना चाहिये । पर ऐसा नहीं होता, बहुत लोग उसे अपना मित्र भी समझते हैं । एक ही आदमी शत्रु और मित्र दोनो कैसे हो सकता है ? जो उसे शत्रु मानता है, उसके लिये वह शत्रु है, जो मित्र समझता है, उसके लिये मित्र है । अत शत्रु-मित्रकी कल्पना मनुष्यके मनने ही की है । जब मनमें ही शत्रुता है, तब मनको ही ठीक करना चाहिये । दूसरेको शत्रु क्यों माना जाय ?

शत्रु-मित्रका भेद स्थूल शरीरको ही लेकर है । स्थूल शरीरके भीतर-का परमात्मा तो सबमे एक ही है, वह न किसीका शत्रु है, न मित्र है । वह तो सबका आत्मा ही है ।

मान लीजिये कोई हमारी निन्दा करनेवाला है । वह किसकी निन्दा करता है—हमारे इस स्थूल शरीरकी अथवा आत्माकी? यदि आत्माकी निन्दा करता है तो अपनी ही निन्दा करता है, क्योंकि हमारा और उसका आत्मा दो नहीं है । और यदि शरीरकी निन्दा करता है, तब तो वह हमारा सहायक ही है, क्योंकि इस स्थूल शरीरकी निन्दा तो हम स्वय भी करते हैं । यह शरीर मल-मूत्रका आगार है, क्षणभङ्गुर है—आदि बातें कहकर हम स्वय भी तो इस शरीरकी निन्दा करते हैं । किसीने ठीक ही कहा है—

आत्मानं यदि निन्दन्ति स्वात्मानं स्वयमेव हि ।
शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जना मम ॥

यदि कहें, हम तो सबमें भगवान्‌का दर्शन करके निर्विकार रहते हैं, किंतु कोई आततायी हमे अकारण मारकर या सताकर चला जाता है, उस समय हमे क्या करना चाहिये? तो उस समय उसी युक्तिसे काम लेना चाहिये, जो पहले बतायी गयी है । आततायी-रूपमें आये हुए भगवान्‌को भी पहचानकर मन-ही-मन नमस्कार करे, किंतु व्यवहारमें कठोरतापूर्वक उसका प्रतीकार करे । व्यवहार तो यथायोग्य होना ही चाहिये । भगवद्दर्शन और स्मरण मनसे करना चाहिये ।

सर्वत्र भगवद्दर्शनका उपाय है—'भक्ति' । हम भगवान्‌मे अपना प्रेम बढ़ावें, उनका भजन करे । उनके नामोंका जप और कीर्तन

आदि करें। इससे भगवान् हमारे अन्तःकरणको शुद्ध करके उसमें अपने विशुद्ध ज्ञानका प्रकाश कर देंगे। फिर सर्वत्र उनके तत्त्वका साक्षात्कार होने लगेगा। फिर वैर-विरोध, शत्रु-मित्रका विरोध स्वयं ही मिट जायगा। तुलसीदासजी कहते हैं—

उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध॥

गीता अध्याय ६ श्लोक २९ से ३२ तकका तथा ७।७, ७।१९, ९।४; ९।६, ९।१७, १८, ९।२९, १०।८, १०।३९, १०।४२, १८।६१ आदि श्लोकोंका मनन करके तदनुसार अनुभव करनेसे भी सर्वत्र प्रभुके दर्शन हो सकते है।

४—काम-क्रोध ही समस्त पापोंकी जड़ हैं। काम ही क्रोध है। इस कामके तीन अधिष्ठान हैं—इन्द्रिय, मन और बुद्धि। मनके द्वारा इन्द्रियोंको और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करनेसे कामका नाश सम्भव होता है। यद्यपि मन बहुत ही चञ्चल है, वायुकी भाँति इसका निग्रह अत्यन्त दुष्कर है, तथापि 'अभ्यास' और 'वैराग्य'से इसको काबूमें किया जा सकता है। मनकी वृत्तियोंको रोकना ही योग है और जो उन्हें रोकनेका साधन करता है, वह साधक योगी है। मनको रोकनेका सबसे अच्छा साधन है—भगवान्‌के सगुण विग्रहका ध्यान। मन निरवलम्ब नहीं रह सकता, उसको कोई सुन्दर आलम्ब मिलना चाहिये। भगवान्‌की मधुर मनोरम झाँकीसे बढ़कर दूसरा कोई अवलम्ब नहीं हो सकता। अतः भगवान्‌के दिव्य रूपके ध्यानमें मनको बाँध रखना होगा। इसके वशमें होते ही काम-क्रोधकी जड़ स्वयमेव कट जायगी। भगवान् कहते हैं, जो विषयोंका चिन्तन करता

है, उसका मन उन्हींमे आसक्त होता जाता है और जो मेरा स्मरण करता है, उसका मन मुझमें ही लीन हो जाता है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २७)

इसके सिवा जो साधक अनन्यभावसे भगवान्‌के चरणोंका भजन करता है, उसके हृदयमे यदि कभी पूर्वकी प्रबल वासनाके कारण कोई अनुचित संकल्प हुआ और उससे प्रेरित होकर कोई निषिद्ध कर्म भी बन गया तो उसके अन्त करणमे स्थित भगवान् स्वयं ही उसके कर्म और विकर्म (विरुद्ध कर्म) का नाश कर देते हैं। उसके योगक्षेमका सारा भार भगवान् स्वय उठा लेते हैं—

स्वपादमूल भजतः प्रियस्य
त्यक्तात्मभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ४२)

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।

(गीता ९ । २२)

इस प्रकार आपकी शङ्काओपर कुछ विचार प्रकट किया गया है। इससे यदि आपको कुछ सन्तोष हुआ तो मुझे प्रसन्नता होगी। आपने जो मुझे प्रणाम लिखा सो ठीक नहीं है। मैं तो आपके आशीर्वादका ही अधिकारी हूँ।

(७८)

प्रार्थनाका महत्त्व

आपका कृपापत्र मिला । प्रार्थनाके सम्बन्धमें आपके प्रश्न बड़े महत्त्वके हैं । उनका उत्तर अपनी बुद्धि तथा अनुभवके आधारपर लिख रहा हूँ । आपको कुछ लाभ हुआ तो आनन्दकी बात है ।

प्रार्थनाका मूल है विश्वास ! 'भगवान् हैं, वे परम सुहृद् हैं, हमारी प्रत्येक बातको सुनते-समझते हैं, हमपर उनकी असीम स्नेह-सुधा-धारा सदा बरसती रहती है, वे अपने-से-अपने हैं, निकट-से-निकटतम आत्मीय हैं, सदा हमारे साथ रहते हैं—हमारे हृदयमें रहकर हमारी देख-रेख करते हैं और हमारी करुण पुकार सुनकर उसी समय हमारे दुःखका नाश करते हैं ।' इस प्रकार जिनके हृदयमें विश्वास है, वे ही प्रार्थनाके 'अधिकारी' हैं । ऐसे अधिकारी अपने परम सुहृद् भगवान्‌के सामने अपनी भाषामें हृदय खोलकर जो अपनी व्यथा सुनाते हैं और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनसे जो सहायता चाहते हैं, उसीका नाम 'प्रार्थना' है । जब विश्वासी भक्त जगत्‌की अन्यान्य चेष्टाओंसे विमुख होकर, अन्य आशाओंको छोड़कर, अन्य बलोंका भरोसा त्याग कर, अपने हृदयाराध्य नित्य सुहृद् प्रभुके चरणोंमें रो-रोकर अपनी जो रामकहानी सुनाता है, वह स्वाभाविक ही बड़ी सच्ची, बड़ी सुन्दर, बड़ी मधुर और बडी आकर्षक होती है । उससे तुरत ही हृदयका भार हलका हो जाता है । भीषण चिन्ताओंकी आगसे जलते हुए हृदयको, जैसे भीषण ग्रीष्मसे उत्तप्त पृथ्वीको वर्षाकालीन जलधारा शीतल और प्रशान्त कर देती है, वैसे ही अपूर्व शान्ति मिलती है, कामना और वासनाओंसे कलुषित तथा पीडित दुर्बल हृदयमें पवित्रता,

सुख और शक्तिका सञ्चार होता है और मुरझाया हुआ उदास मुखकमल आनन्दमयकी आनन्द-किरणोंके पड़ते ही सहसा खिल उठता है।

परन्तु हम अभागे मनुष्य भगवान्‌पर, भगवान्‌की अपार कृपापर, उनके अहैतुक सौहार्दपर और उनके वाञ्छाकल्पतरु स्वभावपर विश्वास नहीं करते! इससे दिन-रात एकके बाद एक दु:ख, दैन्य, दुर्भाग्य, रोग, शोक, अपमान, अत्याचार, दुर्वासना और दुश्चिन्ता आदिसे पीड़ित होनेपर भी उनसे छुटकारा पानेके अव्यर्थ साधन सुख-शान्तिके अमोघ उपाय 'प्रार्थना'से लाभ नहीं उठाते। चौबीस घंटेमें घंटेभर भी एकान्तमें बैठकर भगवत्प्रार्थना नहीं करते—प्रभुके दरबारमें हाजिर होकर अपना दु:ख उन्हें नहीं सुनाते।

इसका यह अर्थ नहीं कि हमें समय नहीं मिलता। व्यर्थ कार्योंके लिये पर्याप्त समय मिल जाता है। दु:ख-संकटसे पूर्ण, क्लेशसाध्य, कलुषित और व्यर्थ व्यापारोंमें, निष्फल बल्कि पाप उत्पन्न करनेवाले अनेकों कार्योंमें हम अपना जीवन बिता देते हैं; परन्तु भगवत्स्मरण, भगवन्नाम-जप और भगवत्प्रार्थना-सरीखे सहज, अव्यर्थ और निश्चय फल देनेवाले साधनोंमें हम प्रतिदिन थोड़ा-सा समय भी नहीं लगाते—सरल व्याकुल हृदयसे कभी उन्हें नहीं पुकारते। इसमें प्रधान कारण है हमारे 'विश्वासका अभाव।'

जैसे शरीरके अभावकी पूर्ति और उसके संरक्षणके लिये स्वाभाविक ही भूख-प्यास उत्पन्न होती है, वैसे ही भगवान्‌के निर्मल चरणामृतकी प्यासी आत्मामें भी उसकी स्वाभाविक भूख-प्यास है। स्वाभाविक स्थितिमें आत्मा सचमुच ही भगवत्प्रसादके लिये व्याकुल होती है। जबतक भगवच्चरणारविन्दकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक साधककी

आत्माको कुछ भी नहीं सुहाता, वह नितान्त अधीर और उत्कण्ठित हो जाता है । यही नियम शरीरके सम्बन्धमें है । अस्वस्थ स्थितिमें भूख बद हो जाती है, परन्तु स्वस्थ स्थितिमें समय-पर भूख लगती ही है और उस अवस्थामे अन्न-जल न मिलनेपर अत्यन्त व्याकुलता होती है । आज जो आत्मामे भगवत्प्रसादके लिये भूख-प्यास नहीं दिखायी देती है, इसका कारण है अनेक जन्मोंके अशुभ कर्मोंके बुरे सस्कार । इन कुसंस्कारोंके कारण भगवत्प्राप्तिके लिये होनेवाली विरहकी आग मन्द पड़ गयी है । मन्दाग्निमें भूख कैसे लगे ? इस अग्निको फिरसे प्रदीप्त करना पडेगा, नहीं तो, इस रोगसे कभी छुटकारा नही मिलेगा और इसका फल होगा भीषण आत्मघात !

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

श्रीमद्भागवतमें स्वयं श्रीभगवान्‌ने कहा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥
(११ । २० । १७)

'यह मानव-शरीर भगवत्कृपासे सुलभ और वस्तुत बहुत दुर्लभ है । ससार-सागरसे तरनेके लिये यह दृढ नौका है । गुरुदेव कर्णधार हैं और मैं अनुकूल वायुके रूपमें इसकी सहायता करता हूँ, इतनेपर भी जो भवसागरसे नहीं तरता, वह तो अपने ही हाथों अपनी हत्या कर रहा है ।' यह 'आत्महत्या' साधारण नहीं है । मोक्षके द्वारपर पहुँचे हुए आत्माको पुन मरणके मार्गमें पहुँचा देना बड़ा अपराध है ।

यह मरणका मार्ग है--'भगवद्भजनसे विमुखता।' भगवद्भजनसे विमुख रहना ही आत्माको भूखे रखना है और किसीको भूखे रखकर मारना 'महान् अपराध' है। इस रोगकी चिकित्सा करनी चाहिये। चिकित्सा कठिन नहीं है। बस, भगवान्के नामका जप करना और इस रोगनाशके लिये भी भगवान्से कातर प्रार्थना करना। प्रार्थना करनेसे ही प्रार्थनाकी शक्ति और प्रार्थनामें रुचि तथा रति पैदा होगी। फिर स्वाभाविक प्रार्थना होगी, जो आत्माकी असली खूराक है।

प्रार्थना दो प्रकारकी होती है—निष्काम और सकाम। जो सचमुच भगवत्प्रेमी होते हैं, जिनके चित्तकी स्थिति बहुत ऊँची होती है, वे लौकिक कामनाकी पूर्तिके लिये प्रार्थना नहीं करते। वस्तुतः उनके मनमें लौकिक कामना होती ही नहीं। वे तो केवल भगवत्-सेवन ही चाहते हैं और भजनके लिये ही भजन करते हैं। उनकी प्रार्थना तो अपने प्रियतम प्रभुकी प्रीतिके लिये ही होती है। वे यदि कभी कोई कामना करते हैं तो यही कि—'हेतुरहित अनुराग रामपद बढ़ु अनुदिन अधिकाई।' वे मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते, क्योंकि जबतक कोई इच्छा है, तबतक सत्य प्रेमका प्रादुर्भाव ही नहीं होता।

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

(पद्म० पाताल० ४६। ६२)

'जबतक भोग और मोक्षकी पिशाचिनी इच्छा हृदयमें वर्तमान है, तबतक प्रेम-सुखका प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है?'

इसीलिये प्रेमी भगवद्भक्त मोक्षका भी परित्याग करके केवल प्रेम ही करते हैं और इस प्रेमके लिये ही, प्रेमकी प्रेरणासे ही वे अपने

प्रियतम भगवान्‌को भजते हैं । श्रीभगवान् कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४)

'जिसने अपनेको मुझे अर्पण कर दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्माका पद चाहता है, न देवराज इन्द्रका और न सार्वभौम सम्राट्‌का ही पद चाहता है, तथा न वह रसातलका राज्य चाहता है और न योगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ ही, यहाँतक कि वह अपुनर्भव (मोक्ष) की भी इच्छा नहीं करता ।'

श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये ।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥

'हे जगदीश्वर ! मैं धन, जन, सुन्दरी या कीर्तिप्रदायिनी कविता नहीं चाहता । मेरी तो बस, यही प्रार्थना है कि जन्म-जन्ममें तुम्हारे चरणोंमे अहैतुकी भक्ति ही बनी रहे ।'

असलमे यह भी एक प्रकारकी कामना ही है, परन्तु इस कामनामें निज सुखकी इच्छाका परित्याग है, यहाँतक कि समस्त दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूपा मुक्तिकी भी चाह नहीं है, बल्कि अपने प्रियतम भगवान्‌की रुचिके अनुकूल भगवत्सेवामे दुःख भी उठाने पड़ें तो उनका सहर्ष स्वीकार है । इसलिये यह निष्काम है ।

सकाम प्रार्थनामें विश्वासी भक्त अपने या दूसरोंके दुःखोंके नाश या मनोरथोंकी पूर्तिके लिये भगवान्‌से कामनायुक्त प्रार्थना करता है ।

हमारे वेद ऐसी ही प्रार्थनाओंके मन्त्रोंसे भरे हैं। यद्यपि सकाम प्रार्थना निष्कामकी अपेक्षा निम्नश्रेणीकी है, परन्तु इसमें भी विश्वासकी दृढ़ता है, इसलिये यह भी ऊँची श्रेणीकी भक्ति ही है। इसीसे भगवान्‌ने गीतामे सकाम भक्तोंको भी 'सुकृती' और 'उदार' बतलाया है और उनको भी अन्तमे अपनी प्राप्ति बतलायी है—'मद्भक्ता यान्ति मामपि।'

इसीसे भक्त तुलसीदासजी कहते हैं—

जग जॉचिय कोउ न, जॉचिय जो,
जियँ जॉचिय जानकिजानहि रे।
जेहि जॉचत जॉचकता जरि जाय
जो जारत जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषन की,
अरु आनु हियें हनुमानहि रे।
तुलसी! भजु दारिद-दोष-दवानल,
संकट-कोटि-कृपानहि रे॥

'जगत्मे किसीसे कुछ भी मॉंगना नहीं चाहिये। यदि मॉगना ही हो तो मन-ही-मन जानकीनाथ श्रीरामचन्द्रजीसे मॉगो, जिनसे मॉंगनेपर वह मगनपना (कामना-वासना) जल जाता है, जो बरबस सारे जगत्को जला रहा है। (कामनाका जल जाना ही प्रेमकी प्राप्तिका अधिकार पाना है।) विभीषणकी दशाका विचार करके देखो और श्रीहनुमान्‌जीका भी स्मरण करो। गोसाईंजी कहते है—तुलसीदास! दरिद्रतारूपी दोषको जलानेके लिये दावानलके समान और करोड़ों सकटोंको काटनेके लिये कृपाणरूप श्रीरामचन्द्रजीको भजो।'

वेदोमें वर्षाके लिये भगवान्‌की इन्द्रस्वरूपसे प्रार्थना की गयी है, और भी विभिन्न कामनाओंकी पूर्तिके लिये प्रार्थनाएँ है। ऐसी

प्रार्थनाएँ प्राचीन कालमें लोग करते थे और उन्हें उनका निश्चित फल भी तुरंत मिलता था। आधुनिक विज्ञान इस बातको स्वीकार नहीं करता। वह कहता है वर्षा प्राकृतिक नियमोंसे होती है। किसीकी प्रार्थनासे प्रकृतिमें क्रिया नहीं हो सकती। प्रकृतिका नियम न तो मनुष्यकी प्रार्थना समझता है और न उसके द्वारा शासित या सञ्चालित होकर कोई क्रिया ही करता है। विज्ञानका यह पता नहीं है कि प्रकृतिके अंदर एक ज्ञानमयी चेतन शक्ति ओतप्रोत है, जिसकी प्रेरणासे सारे कार्य होते हैं। इस व्यापक शक्तिका नाम ही हमारी शास्त्रीय भाषामें 'विष्णु' है। श्रुति कहती है—'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' 'विश्वकी रचना करके वे विष्णु उसके अणु-अणुमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो गये।' प्रकृतिके जितने भी कार्य होते हैं, वे सब उसके प्रेरक प्रभुके संकेतसे ही होते हैं। उन्हींकी शक्तिसे चन्द्र, सूर्य, वायु आदिमें क्रिया है, इस बातको आजका विज्ञान अभी नहीं मानता। हमारे 'केनोपनिषद्'में आता है कि भगवान्‌ने जब अग्नि और वायुमेंसे शक्ति हरण कर ली, तब एक क्षुद्र-से तृणको न तो अग्निदेवता जला सके और न वायु उड़ा ही सके। प्रह्लादके अग्निमें न जलनेका भी यही रहस्य है। विभिन्न देवताओंके रूपमें भगवान् ही प्रकृतिमें स्थित रहकर विभिन्न क्रियाएँ सम्पन्न करते हैं। इसीलिये यज्ञादि क्रियाओंमें देवताओंकी प्रार्थना होती है और उनके द्वारा अभीष्ट फलकी सहज ही प्राप्ति होती है। जो लोग भगवान्‌से मनोरथ-पूर्तिके लिये प्रार्थना करते हैं, उनका यह विश्वास होता है कि सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की शक्तिसे ही सब कुछ होता है और सब कुछ हो सकता है। भक्तवाञ्छाकल्पतरु

श्रीभगवान् जीवोंकी सरल और कातर प्रार्थना सुनते हैं तथा उनकी इच्छा पूर्ण करते हैं।

वैज्ञानिक लोगोंकी धारणामें इस जगत्के दृश्य पदार्थोंके अतिरिक्त किसी अन्य अदृश्य भागवती या दैवी-शक्तिका अस्तित्व नहीं है। यह उनकी अज्ञता है। विज्ञानमें ज्यों-ज्यों उन्नति होगी—वैज्ञानिकगण ज्यों-ज्यों सत्यकी ओर आगे बढ़ेंगे, त्यों-ही-त्यों उनको इस सत्यकी भी उपलब्धि होगी कि समस्त प्रकृतिमें जो एक अखण्ड नियमसे कार्य हो रहा है, इसका नियमन करनेवाली दिव्य चेतन भागवतीशक्ति है और उसकी उपासनासे प्रकृतिके कार्योंमें विलक्षण परिवर्तन भी हो सकता है।

प्रार्थना सकाम हो या निष्काम, होनी चाहिये सरल श्रद्धा और विश्वासके साथ। प्रार्थनामें किसी श्लोक, कविता या गानकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि भाव-विकासके लिये इनके उपयोगमें आपत्ति भी नहीं है। प्रार्थनामें तो आवश्यक है हृदयका भाव। जैसे छोटा बच्चा सरल विश्वाससे माके सामने रोकर अपनी सहज बोलीमें अपनी बात माको सुनाता है, वैसे ही प्रार्थना भी शुद्ध सरल हृदयसे होनी चाहिये।

---

(७९)

प्रार्थना

आपका कृपापत्र मिला। आप अपनी भाषामें अपने हृदयके उद्गार आर्त और दीन भावसे 'श्रीभगवान् अपने अत्यन्त समीप हैं और सब कुछ देख-सुन रहे हैं' ऐसा विश्वास करके भगवान्‌के सामने रखिये। कातर पुकार कीजिये और सच्चे मनसे रोकर अपनी स्थिति

उन्हें बताइये। यही सच्ची प्रार्थना है। सच्ची प्रार्थनामें बड़ी शक्ति है! आपको प्रार्थनाका मङ्गलमय उत्तर मङ्गलमय श्रीभगवान्‌की ओरसे अवश्य मिलेगा। इसपर विश्वास कीजिये। आप करुण प्रार्थनाके कुछ श्लोक चाहते हैं सो प्रार्थनाके हजारों-लाखों श्लोक हैं। संस्कृत साहित्य स्तुतियोंसे भरा है। यहाँ कुछ श्लोक लिख रहा हूँ। इनसे लाभ उठाइये—

न ध्यातोऽसि न कीर्तितोऽसि न मनागाराधितोऽसि प्रभो
नो जन्मान्तरगोचरे तव पदाम्भोजे च भक्तिः कृता।
तेनाहं बहुदुःखभाजनतया प्राप्तो दशामीदृशीं
त्वं कारुण्यनिधे विधेहि करुणां श्रीकृष्ण दीने मयि॥

'प्रभो! न तो मैंने कभी ध्यान किया, न कीर्तन किया और न जरा-सी आराधना ही की। अनेक जन्मोंमें प्रत्यक्ष होनेवाले तुम्हारे चरणकमलोंमें कभी भक्ति भी नहीं की। इसीसे अतिशय दुःखका पात्र बनकर मै ऐसी दशाको प्राप्त हुआ हूँ। तो भी हे श्रीकृष्ण! हे करुणाके सागर! मुझ दीनके प्रति आप करुणा (दया) कीजिये।'

परमकारुणिको न भवत्परः
परमशोच्यतमो न च मत्परः।
इति विचिन्त्य हरे मयि पामरे
यदुचितं यदुनाथ तदाचर॥

'हे हरे! तुमसे बढ़कर परम कारुणिक और कोई नहीं, और मुझसे बढ़कर परम शोचनीय और कोई नहीं। हे यदुनाथ! यो समझकर मुझ पामरके लिये जो उचित हो, वही कीजिये।'

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके
सहस्रशो यन्न मया व्यधायि।

सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द
क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥

'हे मुकुन्द ! संसारमे ऐसा कोई भी निन्दित कर्म नहीं है, जिसे मैने हजारो बार नहीं किया है । वही मैं अब, जब उन कर्मोंके फल पानेका अवसर आया है, तब कोई भी पथ न पाकर तुम्हारे आगे रो रहा हूँ ।'

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा
सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम् ।
किन्तु त्वदग्रे शरणागतानां
पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः ॥

'हे नाथ ! अबतक जैसा दु:ख नहीं हुआ है, वैसा दु:ख अथवा भविष्यमें होनेवाले इन सब दु:खोंको मैं सह लूँगा, क्योंकि वे दु:ख तो मेरे साथ ही उत्पन्न हुए हैं । (दु:खोंको सहनेका मैं अभ्यासी बन गया हूँ) किन्तु स्वामिन् ! जो तुम्हारी शरणमें आ गये हैं, उनका तुम्हारे सामने पतन होना तुम्हारे अनुरूप तो नहीं ही है ।'

शरणमसि हरे प्रभो मुरारे
जय मधुसूदन वासुदेव विष्णो ।
निरवधिकलुषौघकारिणं मां
गतिरहितं जगदीश रक्ष रक्ष ॥

'हे हरे ! मुरारे ! प्रभो ! एकमात्र तुम्हीं मेरा आश्रय हो । मधुसूदन ! वासुदेव ! विष्णु ! तुम्हारी जय हो । मैंने निरन्तर ढेर-के-ढेर पाप किये हैं । मुझे कहीं गति नहीं है । जगदीश्वर ! मेरी रक्षा करो ।'

अयि नन्दतनूज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थितधूलीसदृशं विभावय ॥

'ऐ नन्दकिशोर ! मैं तुम्हारा किङ्कर हूँ, विषम भवसागरमे गिर पडा हूँ । कृपया मुझे अपने चरण-कमलोंकी धूलिके समान समझ लो ।'

दिनादौ मुरारे निशादौ मुरारे
दिनार्द्धे मुरारे निशार्द्धे मुरारे ।
दिनान्ते मुरारे निशान्ते मुरारे
त्वमेको गतिर्नस्त्वमेको गतिर्नः ॥

'मुरारे ! दिनके आरम्भमे, मुरारे ! रातके आरम्भमे, मुरारे ! दुपहरको, मुरारे ! आधी रातको, मुरारे ! दिनके अन्तमे और मुरारे ! रातके अन्तमे हमारे तो तुम्ही एकमात्र गति हो, तुम्हीं एकमात्र गति हो ।'

दीनवन्धुरिति नाम ते स्मरन्
यादवेन्द्र पतितोऽहमुत्सहे ।
भक्तवत्सलतया त्वयि श्रुते
मामकं हृदयमाशु कम्पते ॥

'यादवेन्द्र ! तुम्हारे दीनवन्धु नामका स्मरण करनेपर मेरे मनमे वडा उत्साह हुआ था, क्योंकि मै पतित (दीन) हूँ । परन्तु अभी तुम्हारा भक्तवत्सल नाम सुनकर तो मेरा हृदय कॉप रहा है । (क्योंकि मैं तो भक्त हूँ नहीं, फिर तुम मुझपर कैसे कृपा करोगे ?)'

विवृतविविधवाधे भ्रान्तिवेगादगाधे
वलवति भवपूरे मज्जतो मे विदूरं ।
अशरणगणवन्धो हा कृपाकौमुदीन्दो
सकृदकृतविलम्बं देहि हस्तावलम्बम् ॥

'जिसमे विविध वाधाएँ विस्तृत है, जो भ्रान्तिके वेगमे अगाध है, ऐसे वलवान् ससार-समुद्रमे मै वहुत दूर डूव रहा हूँ । हे अशरणा-

के बन्धु ! हे कृपाचन्द्रिका फैलानेवाले चन्द्रमा ! हाय ! आप मुझ डूबते हुएको एक बार तुरत हाथका सहारा दीजिये ।'

असलमें श्लोकोंका कोई विशेष महत्त्व नहीं है । महत्त्व तो है हृदयकी सच्ची दीनतापूर्ण पुकारका । आप हृदयसे भगवान्‌को पुकारिये ।

(८०)

विश्वासपूर्वक प्रार्थनाका महत्त्व

सप्रेम हरिस्मरण !....पत्र आपका मिला । ....
आपने लिखा है—'मेरे जीवन-पथमें भयंकर अन्धकार छाया हुआ है । समझमें ही नहीं आता, कौन ? क्या ? क्यों ? मैं प्रार्थना करता हूँ उस परम शक्तिसे; किंतु किसी तरह शान्ति नहीं मिलती है ।'

पत्र पढ़नेसे ज्ञात होता है, आप निराशाकी ओर बढ़ रहे हैं । मैं आपको सलाह देता हूँ, आप धैर्य रखिये और आशा न छोड़िये । अन्धकार स्वतः कोई वस्तु नहीं, वह प्रकाशके आवरणकी छायामात्र है । आवरण दूर होते ही अन्धकारका कहीं पता नहीं लगेगा । निशीथकी वेलामें जब समस्त भूमण्डलपर अन्धकारका अखण्ड साम्राज्य छाया रहता है, उस समय क्या हम कभी निराश होते हैं ? हम सबके हृदयमें यह दृढ़ विश्वास रहता है कि अन्धकार क्षणिक है, सूर्यके आवरणकी छाया है । कुछ ही देरमें पौ फटेगी । उस कालमें भगवान् अंशुमालीकी सुनहरी किरणोंसे सर्वत्र सुप्रभातकी छटा छा जायगी । जहाँ इस समय अभेद्य अन्धकार है, वहाँ कुछ ही देरमें प्रकाश मुसकराता दिखायी देगा । आपके जीवन-पथमें भी जो अन्धकार है, वह आनेवाले दिव्य प्रकाशकी सूचनामात्र है । आप धैर्य और

उत्साह रखकर आनेवाले प्रकाशकी प्रतीक्षा करें, उसे ग्रहण करनेके लिये अपने अन्तर्द्वारको सतत मुक्त रक्खें। उल्लू और चमगादड़ दिनमें भी आँखें बंद रखते हैं और यही समझते हैं कि प्रकाशका कहीं अस्तित्व ही नहीं है! ऐसा नहीं होना चाहिये। हमें अपने हृदयको खोल रखना होगा उस दिव्य प्रकाशको भर लेनेके लिये, जिससे जीवनका मार्ग सदा ही आलोकित रहे।

आप परमशक्ति परमेश्वरसे प्रार्थना करें और शान्ति न मिले, यह असम्भव है। रसके अनन्त सागरमें गोते लगानेवालेको शीतलताका अनुभव न हो, यह अनहोनी बात है। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि आपने संशयापन्न हृदयसे किसी अनन्त रससागरकी सत्तापर विश्वास न कर सकनेके कारण क्षणिक भावावेशमें आकर मरुकी मरीचिकाको ही समुद्रका जल मान लिया हो और अनजान मृगकी भाँति उसीमें गोते लगानेको दौड़ पड़े हों! ऐसा होनेपर ही तृषा और तापके बढ़नेकी सम्भावना है। आपके इस विचारसे—'ईश्वर मनुष्यकी कल्पना-का एक केन्द्र है' मुझे उपर्युक्त धारणा बनानी पड़ी है। जब आपका यही विश्वास है कि ईश्वर केवल कल्पना है, सत्यसे कोसों दूर है तो अबतक आपने शून्य अथवा मिथ्याकी ही उपासना की है। ऐसी अवस्थामें शान्ति एवं सफलता न मिले, तो आश्चर्य ही क्या है?

'कौन, क्या, क्यों'—इन प्रश्नोंके चक्रमें उलझे हुए मनसे कहीं वास्तविक प्रार्थना हो सकती है? प्रार्थना आरम्भ करनेके पहले ही इनका हल निकाल लेना होगा, किसी दृढ़ निश्चयपर पहुँच जाना होगा। अन्यथा सारा अभिनय अन्धकारमें टटोलनेके ही समान है। आइये, पहले ईश्वरको खोजें, फिर देखें वह कैसे नहीं सुनता है।

शास्त्रोंमें ईश्वरकी यह पहचान बतायी गयी है—'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वर '—'जो करने, न करने और अन्यथा करनेमें समर्थ हो, वह ईश्वर है।' ससारमे तीन बाते प्रत्यक्ष अनुभवमे आती है—कृति, अकृति ओर अन्यथा। कृति—सृष्टि, प्रलय तथा परिवर्तन ये तीनों जिस एक शक्तिके संकल्पसे होते हैं, वह ईश्वर है।

इस जगत्को हम प्रत्यक्ष देखते हैं, अपनेको भी प्रत्यक्ष देखते है। यह जगत् है, यह मैं हूँ, इसपर कभी अविश्वास नहीं होता। किंतु जगत् एक कार्य है, प्रत्येक कार्यका एक कारण है, जो कार्यकी अपेक्षा अधिक सत्य है। घटकी सत्तामे कोई सन्देह हो सकता है, किंतु घटके प्रत्यक्ष होनेपर कुम्भकारकी सत्तामे सन्देह नहीं हो सकता। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्का, अखण्ड ब्रह्माण्डका कर्ता ईश्वर असत् कैसे हो सकता है? इसी तरह ईश्वर अकर्ता और अन्यथा कर्ताके रूपमे प्रत्यक्ष सिद्ध है। अकर्ताका अर्थ मैंने 'विध्वसकर्ता' लिया है। वैसे अकर्ताका अर्थ यह भी है, 'जो न करे'। ईश्वर कर्ता होकर भी अकर्ता है। यह बात और भी सूक्ष्मबुद्धिसे जानी जा सकती है। मैं यहाँ आपको इतनी गहराईमें उतारना नहीं चाहता।

ईश्वरकी सत्ताको प्रत्यक्ष करानेवाले और भी बहुत-से दृष्टान्त हैं। मशीनें चलती हैं, उनमे यह गतिशीलता आयी कहाँसे? विद्युत्-शक्तिसे। इसी प्रकार जगत्-यन्त्रका सञ्चालन करनेवाली शक्तिका नाम ईश्वर है। मिट्टीका ढूहा अथवा ऊँची-नीची पर्वतमालाएँ भले ही प्राकृतिक हों, किंतु सुन्दर-सुन्दर दरवाजों और खिड़कियोंसे सुशोभित महल तो किसी चतुर कारीगरकी ही करामातें हैं। इसी प्रकार शरीर-रूपी गृह या नगरके, जो नवद्वारोंसे सुशोभित है, रचयिता जगदीश्वरको

कैसे भुलाया जा सकता है ? यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र कराया गया है । ईश्वरकी सत्तामें अनेकानेक शास्त्रीय प्रमाण, प्रबल तर्क, सुन्दर उक्तियाँ तथा प्रत्यक्षदर्शी संतोंकी अनुभूतियाँ प्रमाण हैं । ईश्वरके सम्बन्धमें विशेष जानना हो तो 'कल्याण'का 'ईश्वराङ्क' कहींसे लेकर पढ़िये !

इस प्रकार ईश्वरकी अखण्ड सत्ताको हृदयङ्गम करके उनके साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध जोड़ लीजिये । वास्तवमें ईश्वर और जीवका सम्बन्ध तो नित्य ही जुड़ा ही हुआ है, किंतु हमें अज्ञानवश उसका अनुभव नहीं हो रहा है । हमने इस चिरन्तन सम्बन्धको तोड दिया है । ईश्वर हमारा माता-पिता, भाई-बन्धु, सखा-सुहृद्, पति और प्रियतम सब कुछ है । अपनेको जो सम्बन्ध प्रिय लगे, वही सम्बन्ध जोड़ लीजिये । जगत्के लोगोंसे हमने अनेकों सम्बन्ध जोड़ रक्खे हैं । वे सभी सम्बन्ध अनित्य हैं, क्षणिक हैं, शरीरके साथ ही और पहले भी टूट जानेवाले हैं, किंतु ईश्वर सनातन है, उसका नेह, उसका नाता भी सनातन है, उसके टूटने और छूटनेका डर नहीं, भय नहीं । अब ईश्वर आपका है और आप ईश्वरके हैं । जिस तरह रीझें और रिझाये । शास्त्रोद्वारा उनकी आज्ञाको जान ले । जो ईश्वरको अभीष्ट हो वही करे, जो उसे प्रिय नहीं, उसे छोड दे, सदा उसके अनुकूल चलें, उसीके होकर रहें । यदि ऐसा हुआ तो आपसे अधिक चिन्ता वही आपके लिये करेगा । योग-क्षेमका सारा भार अपने ऊपर लेकर वह सदाके लिये आपको निश्चिन्त कर देगा ।

उस समय आप भेददृष्टिसे प्रार्थना करें या अभेददृष्टिसे, वह सब सुनेगा । सुनता तो अब भी है. पर आपको विश्वास नहीं है ।

यह अविश्वास उस समय नहीं रह जायगा । आपकी प्रत्येक बात सुनी जायगी । सबका उत्तर मिलेगा । तब आपको स्वयं मालूम होगा कि प्रार्थनामें कितना बल है । बड़े-बड़े धर्माचार्य और धर्मग्रन्थ जो प्रार्थनाका महत्त्व बतलाते हैं, उसका स्वय अनुभव होने लगेगा ।

आप सर्वत्र और सबमें भगवान्‌को देखें । भगवान्‌के नामोंका निरन्तर जप और स्मरण करें तथा सवेरे-शाम उपासनाके समय भगवान्‌का चिन्तन करते हुए महर्षि सुतीक्ष्णकी भाँति स्तुति करें । रामचरितमानस अरण्यकाण्डमें १० वें दोहेके बाद जो श्रीरघुनाथजीकी स्तुति सुतीक्ष्णजीके द्वारा की गयी है, उसीको आप अपने लिये प्रार्थना बना लें । इससे शीघ्र ही महान् लाभ होता दिखायी देगा ।

(८१)

गुरु कैसे मिले

आपका कृपापत्र मिला । आपने लिखा कि परमार्थकी सिद्धिके लिये गुरुकी आवश्यकता है, सो आपका लिखना ठीक है । गुरु बिना मार्ग कौन बतायेगा ? परन्तु गुरु होना चाहिये सच्चा मार्गदर्शक ही । मार्गदर्शक वही होगा, जो मार्ग जानता होगा और शिष्यको भी उसी मार्गसे ले जानेकी इच्छा रखता होगा । आजकल ऐसे गुरु बहुत कम हो गये हैं । एक जगह कहा है—

> गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
> दुर्लभोऽयं गुरुर्देवि शिष्यसन्तापहारकः ॥

'शिष्यके धनका अपहरण करनेवाले गुरु बहुत होते हैं, परन्तु

शिष्यके सन्तापको हरनेवाले गुरु दुर्लभ हैं। बहुत कुछ ऐसी ही बात है भी।

ऐसी हालतमें गुरुके लिये विशेष चिन्ता न करके भगवान्‌का भजन, ध्यान, शुद्ध आचरण और श्रद्धा-विश्वासके साथ भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् यदि गुरुकी आवश्यकता समझेंगे तो वे अपने-आप ही योग्य गुरुकी व्यवस्था कर देंगे। बल्कि विशेष प्रयोजन होनेपर स्वयं भगवान् ही गुरुरूपमें आपको उपदेश कर देंगे।

रही स्त्रियोंके गुरु करनेकी बात, सो इस विषयमें मेरी नम्र सम्मति तो यह है कि स्त्रियोंको अपने मनसे भगवान्‌को ही गुरु बनाना चाहिये। इसीमें कल्याण है।

(८२)

भगवान् परम गुरु हैं

सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र यथासमय मिल गया था। कार्यवश उत्तरमें विलम्ब हुआ, कृपया क्षमा करेंगे।

आपका यह निश्चय पढ़कर प्रसन्नता हुई कि 'इस असार संसारमें भगवान्‌का भजन ही सार है।' इसमें सन्देह नहीं कि साधन-मार्गमें सद्‌गुरुका बहुत बड़ा महत्त्व है। सद्‌गुरुकी कृपासे साधकको सिद्धितक पहुँचनेमें सुगमता होती है, साधनामें रुचि और उत्साह बढ़ते रहते हैं तथा विघ्नोंके निवारणमें भी पर्याप्त सफलता प्राप्त होती है। गीतामें भी 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' इत्यादि कहकर गुरुकी उपयोगिता तथा महत्ता बतायी गयी है। अतः किसी भगवत्प्राप्त, श्रेष्ठ, अनुभवी संत-महात्मा-

को गुरु बनाकर उनके शरणागत होकर साधनकी दीक्षा ग्रहण करना बहुत ही उत्तम बात है। गुरुके बिना मनका संशय नही जाता और साधनमे भी सुदृढ़ आस्था नहीं होती।

परंतु श्रेष्ठ सद्गुरुकी प्राप्ति भी सरल नहीं है। पहले तो ऐसे गुरुको पहचानना ही कठिन है। यदि दूसरोंके कहनेपर किसीको श्रेष्ठ संत मान भी लिया तो भी सहसा उसके प्रति गौरव-बुद्धि उत्पन्न नही होती। हम अपने संशयापन्न मन और बुद्धिके द्वारा कभी संतको भी असत और असतको भी संत मान लेते है। यह भी सत्य है कि दिव्य जगत्के कुछ सिद्ध महापुरुष अव्यक्तरूपसे जगत्मे विचरण करते हैं और योग्य अधिकारियोके समक्ष प्रकट हो उन्हे उपदेशसे अनुगृहीत करके सफलतापूर्वक साधनमे लगा देते है; उनके आशीर्वादसे साधक शीघ्र ही कृतार्थ हो जाता है। परंतु हममे वह योग्यता या अधिकार है या नहीं, नहीं है तो कबतक होगा और कैसे हो सकेगा, ये सब बातें भी साधकके हृदयको चिन्ताग्रस्त बनाये रखती हैं। जब अकारण करुणा करनेवाले श्रीभगवान् ही कृपापूर्वक किसी संतको गुरुरूपसे भेज दे या स्वयं गुरुके रूपमे दर्शन देकर साधकको कृतार्थ कर दें, तभी साधनमे शीघ्र सफलता मिल सकती है। इसीलिये कहा जाता है कि 'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।'

ऐसी दशामे जबतक मनुष्यके जीवनमे ऐसा शुभ अवसर नहीं आता, योग्य अनुभवी तथा श्रद्धेय गुरुकी उपलब्धि नहीं होती, तबतक क्या वह चुप बैठा रहे? साधनमें न लगे?—ऐसा सोचना भारी भूल है। अपनेको तो बिना एक क्षणका भी विलम्ब किये भजन-साधन-मे लग जाना ही चाहिये। भगवान्पर, उनकी अहैतुकी कृपापर सुदृढ़

भरोसा करके उन्हीको गुरु मानकर साधन आरम्भ कर देना चाहिये। वे गुरुओंके भी परम गुरु है, जगद्गुरु हैं। वे ही उचित समझे तो कोई सद्गुरु भेज दे अथवा स्वयं ही गुरुरूपमे आकर अनुगृहीत करें। यह काम उनका है। अपना काम है केवल विश्वासके साथ भजन करना। भजन कभी व्यर्थ नहीं जाता। थोड़ा-सा भजन भी महान् भयसे रक्षा करता है 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' 'न मे भक्त. प्रणश्यति'—यह भगवान्की प्रतिज्ञा है। 'देवता जल भी नहीं ग्रहण करते, साधनका कोई फल नहीं होता' ये सब बाते गुरुकी आवश्यकता बतलानेके लिये ही है। सद्गुरुकी प्राप्तिके पहले जो साधन-भजन या पुण्यकर्म किये जाते है, वे व्यर्थ होते है ऐसा उनका तात्पर्य कदापि नहीं हो सकता।

ब्राह्मणके लिये अथवा किसीके लिये भी गृहस्थ या विरक्त गुरुका प्रश्न नहीं उठता। गुरु साधनपथके अनुभवी, परमार्थरत, भगवत्प्राप्त तथा परम दयालु होने चाहिये। फिर वे गृहस्थ हों या विरक्त, सर्वथा वन्दनीय हैं। वशिष्ठजी गृहस्थ थे. परतु उन्होंने कितनोको भव-बन्धन-से मुक्त किया। राजा जनक गृहस्थ थे, किंतु उनके पास उपदेश लेनेके लिये विरक्तशिरोमणि शुकदेवजी भी गये थे। राजा परीक्षित्-ने विरक्तगुरु श्रीशुकदेवजीसे उपदेश प्राप्त किया था।

२—उपासना केवल अपने इष्टदेवकी ही की जा सकती है। उनके साथ उनके पार्षद भी रहें तो अच्छा है। पञ्चदेवोपासनाक्रमसे भी अपने इष्टदेवको मध्यमें स्थापित करके उनकी पूजा की जा सकती है। श्रीविष्णुपञ्चायतनमें भी श्रीविष्णुको ही स्थापित करना चाहिये। श्रीराम या श्रीकृष्ण आदि अन्य स्वरूपोंकी पूजा करनी हो तो उनके

साथ उनके अन्तरङ्ग पार्षदोका पूजन करना अधिक उपयुक्त होगा। भगवान्‌के प्रतीकरूपमे श्रीशालग्रामशिला, धातुनिर्मित प्रतिमा अथवा चित्र आदि जो भी हो, उसमें प्राणप्रतिष्ठापूर्वक पूजन करना अधिक उत्तम है। भगवान्‌को सर्वत्र व्यापक देखनेवाला या शास्त्रविधिसे अनभिज्ञ श्रद्धालु साधक विना प्राणप्रतिष्ठाके भी भगवत्स्वरूप मानकर ही उन प्रतीकोंपर पूजन कर सकता है।

३—भगवान् श्रीकृष्णके प्रतिपादक किसी भी मन्त्रको आप जप सकते हैं। किसी विद्वान्‌से उसके न्यास आदिकी विधि जान लें तो और भी अच्छा है।

४—'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'—इस मन्त्रमें प्रणव न होनेपर भी इसका महत्त्व कम नहीं है। 'हरि' शब्दका सम्बोधनरूप ही 'हरे' पद है, 'हरा'का नहीं, यही विद्वानोंका निर्णय है। इस मन्त्रका भी, राम-कृष्ण आदि अपने इष्टदेवका चिन्तन करते हुए जप कर सकते हैं। केवल 'राम-राम' या 'कृष्ण-कृष्ण' आदि इष्ट नामको भी मन्त्र मानकर जप करनेमें कोई बाधा नहीं है। 'हरे राम' षोडश नाममें या केवल 'नाम-मन्त्र'में न्यासका नियम नहीं है। जप आरम्भ करनेसे पूर्व अपने इष्टदेवका ध्यान करके जप करना चाहिये। संख्या और समयका एक नियम बना लें। प्रतिदिन अमुक समयसे अमुक समयतक और इतना जप करना है, ऐसा नियम बनाकर वैसा ही प्रतिदिन करना अच्छा है।

आप प्रतिदिन प्रात.काल सन्ध्योपासना और एक माला गायत्रीमन्त्र-का जप करते हैं, यह ठीक है। नित्य सायकाल भी यही नियम ले लें तो अच्छा है। कभी पर्व आदिके अवसरपर विशेषरूपसे विधिवत्

अधिक जप करनेकी बात लिखी, सो यह भी ठीक है। अधिक जप होना तो अच्छा ही है। नित्य जितना करते हैं उससे कम नहीं होना चाहिये। यदि किसी अनिवार्य कारणवश किसी दिन कम जप हुआ तो उसकी पूर्ति दूसरे दिन अधिक जप करके कर लेनी चाहिये।

५—भगवत्प्रीत्यर्थ एकादशीव्रतका आरम्भ करना चाहते हैं, यह बड़ी उत्तम बात है। यहाँसे प्रकाशित संक्षिप्त पद्मपुराणाङ्कमें एकादशी-व्रतकी विस्तृत विधि दी हुई है। उसे देख लें तो सब बातें ज्ञात हो जायँगी। एकादशीका विशेष नियम है—दिनमें उपवास और रातमें जागरण। भगवच्चर्चामें ही समय बीते। उत्साहपूर्वक भगवान्‌का पूजन किया जाय। मन और इन्द्रियोंका संयम आवश्यक है।

६—आसुरी सम्पत्तिके विनाश और दैवी सम्पत्तिके उदयके लिये प्रार्थना करना, सकाम होते हुए भी निष्कामके ही तुल्य है। अतः ऐसा करना उत्तम है। शेष सब भगवान्‌की दया है।

---

(८३)

भोग-वैराग्य और बुद्धियोग-बुद्धिवाद

आपका कृपापत्र मिला। गीताका वास्तविक तात्पर्य क्या है, यह तो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही जानते हैं। भगवान्‌की वाणी सर्वशास्त्र-मयी और सर्वकल्याणकारिणी होती है, अतएव उससे सभीको अपने-अपने अधिकारके अनुसार सत्यकी ओर अग्रसर होनेका मार्ग मिल जाता है; परन्तु आपने जिस तरहसे गीतासे अर्थ लिये हैं, वे मेरी तुच्छ सम्मतिमें ठीक नहीं हैं। आपके दोनों विचारोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) आप लिखते हैं—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
(गीता ११ । ३३)

'इसलिये तू खडा हो जा । यशको प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर समृद्ध राज्यका उपभोग कर ।' इस उपदेशमे भगवान्‌ने राज्योपभोगकी स्पष्ट आज्ञा दी है । फिर गीता विषयभोगसे हटाती है, यह क्यो माना जाय ?' इसका उत्तर यह है कि यद्यपि गीताने वर्ण-धर्मके अनुसार अर्जुनको धर्म-युद्ध करने और राज्य भोगनेकी आज्ञा दी है, परन्तु साथ ही बार-बार कहा है कि विषय-सुखमे आसक्ति और विषयकामना नहीं रहनी चाहिये । बल्कि उन्होने स्पष्ट कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(गीता ५ । २२)

'इन्द्रिय तथा विषयोंके सयोगसे उत्पन्न सब भोग (विषयी पुरुषोंकी दृष्टिमें भ्रमवश सुखरूप भासनेपर भी) निश्चय ही दु.खोंके उत्पत्तिस्थान है और आदि-अन्तवाले (अनित्य) हैं, अतएव हे अर्जुन ! बुद्धिमान् पुरुष उनमे प्रीति नहीं करता ।'

विषयेन्द्रियके सयोगसे उत्पन्न सुखको पहले अमृत-सा लगनेपर भी परिणाममे विषवत् बतलाया है (गीता १८ । ३८) । अतएव गीतामें स्वच्छन्द विषयोपभोगका आदेश कहीं नहीं दिया गया है । विषयभोग मनसे सदैव त्याज्य हैं, क्योकि वे अनित्य और परिणाममें दुःखदायक हैं । भगवान्‌ने स्पष्ट आज्ञा की है—'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व

माम् ॥' (९ । ३३) 'इस अनित्य और सुखरहित लोक (शरीर) को प्राप्त होकर तू (विषयोंमें न फँसकर) मेरा ही भजन कर।' कर्मयोगपरायण स्थितप्रज्ञ पुरुषका लक्षण बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(गीता २ । ६८)

'महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ समस्त इन्द्रियोंके विषयोंसे निगृहीत की हुई होती हैं, उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।' इसके सिवा 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्', 'विविक्तदेशसेवित्वम्', 'अनिकेत', 'शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा', 'वैराग्यं समुपाश्रित' और 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्', 'असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु' इत्यादिमें स्पष्ट ही वैराग्यका उपदेश है।

(२) आपने लिखा—'गीतामें बुद्धियोगकी प्रधानता है—'बुद्धियोगमुपाश्रित्य', 'ददामि बुद्धियोगम्', 'बुद्धियोगाद्धनञ्जय' इत्यादिसे स्पष्ट है। आजके युगनिर्माणकर्ता भी बुद्धियोगकी ही बात कहते हैं, फिर यह क्यों कहा जाता है कि 'बुद्धिवाद' बुरी चीज है। बुद्धिवादका महत्त्व तो गीतासे ही सिद्ध है।

इसका उत्तर यह है कि गीताके बुद्धियोग और आजके बुद्धिवाद (Rationalism) में उतना ही अन्तर है जितना सूर्य और अन्धकारमें। गीतामें बुद्धियोगका अर्थ है भगवान्‌के साथ बुद्धिका संयोग अथवा 'समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोग' और आजके 'बुद्धिवाद' का अर्थ है 'सर्वत्र सन्देहबुद्धि' ईश्वर, आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म,

पाप-पुण्य, शास्त्र और सदाचार—जो त्रिकालज्ञ ऋषियोंकी निर्भ्रान्त बुद्धिके द्वारा अनुभूत तत्त्व हैं—पर अविश्वास; और इन्द्रियसुखभोगमें निरङ्कुश यथेच्छाचार। ऋषियोंकी तपस्यापूत सत्यदर्शनयुक्त बुद्धिने निश्चय करके बतलाया था—'ईश्वर एक, सर्वशक्तिमान्, सर्वात्मा और सर्वलोकमहेश्वर हैं, सारी सृष्टि उन्हींके द्वारा हुई है। आत्मा नित्य-सत्-चित्-आनन्दमय है। भले-बुरे कर्मोंके अनुसार शुभाशुभ लोकोंकी प्राप्ति और उत्तम-अधम योनियोंमें जन्म होता है। शास्त्रविहित सदाचार आचरणीय और शास्त्रनिषिद्ध असदाचार त्याज्य है। संसारका सुख अनित्य और असत् है, क्षुद्र विषयसुखकी कामना छोड़कर भगवत्प्राप्तिके लिये यत्न करना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है, क्योंकि 'भगवत्प्राप्तिमें ही जीवनकी पूर्ण परिणति है।' यदि संसारमे सुखभोग प्राप्त हैं तो उन्हें अनासक्त होकर भगवत्प्रसादके रूपमें ग्रहण करना चाहिये तथा सबके साथ आत्मदृष्टिसे प्रेमका व्यवहार करते हुए सबकी सेवा करते हुए ही भगवत्प्राप्तिकी ओर अग्रसर होना चाहिये। असलमें बुद्धिका ऐसा निश्चय ही असली बुद्धिवाद है और इस बुद्धिसे भगवान्के साथ संयुक्त होकर कर्म करना ही बुद्धियोग है। गीतामें इसी बुद्धियोगका प्रतिपादन है। आजके विकृत बुद्धिवादका कदापि नहीं।

---

(८४)

जीवनमें उतारने लायक उपदेश

सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिले कई दिन हो गये। उत्तर समयपर नहीं लिखा गया, इसके लिये क्षमा करें। आपने याद

रखने लायक उत्तम-से-उत्तम उपदेशात्मक श्लोक अर्थसहित लिखनेके लिये अनुरोध किया, सो शास्त्रोंमें हजारों श्लोक उत्तम-से-उत्तम हैं। बढ़िया किसको बताया जाय। तथापि कुछ श्लोक अर्थसहित लिख रहा हूँ।

भगवान्‌के श्रीमुखका वचन है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

'सब धर्मोंको (समस्त लौकिक धर्मोंके आश्रयको) त्यागकर केवल एक मेरी शरणमें आ जा (शरणागतिरूप परमधर्मको प्राप्त हो जा)। फिर मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोच मत कर।'

भागवत-माहात्म्यमें श्रीगोकर्णजीने कहा है—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषान् जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥
(४। ७९-८०)

'इस हड्डी, मांस और रक्तसे बने हुए शरीरका अभिमान छोड़ दो। स्त्री-पुत्र आदिकी ममताका बिल्कुल त्याग कर दो। इस जगत्‌को दिन-रात क्षणभङ्गुर समझो और वैराग्यरूपी रसके रसिक होकर

सम्मान्य पुरुषोको मान दो, द्वेष करनेवालोंके साथ भी विनयका व्यवहार करो, अपने गुणोंको सदा ढकते रहो, कीर्तिकी रक्षा करो—अकीर्ति हो ऐसा निन्दित कर्म मत करो, और दुखी जीवपर दया करो। सत्पुरुषोके यही लक्षण है।'

इन श्लोकोका एक-एक वाक्य वडा ही हितकर और मानने-योग्य है। इनको केवल कण्ठस्थ ही नही करना चाहिये, अपने जीवनमे उतारना चाहिये। तभी यथार्थ लाभ होगा।

(८५)

पीछे पछतानेके सिवा और कुछ भी न होगा

सप्रेम राम राम! तुम्हारा पत्र मिला। भैया! सचमुच मनुष्य भ्रमसे ही भोगोंमे सुख मानता है। असलमें भगवान्को छोडकर सुख कहाँ है? यहाँकी कौन-सी चीज स्थायी है?—'मा कुरु धनजन-यौवनगर्वम्, कालो हरति निमेषात् सर्वम्।' 'धन, परिवार और यौवनका गर्व मत करो, आँखकी पलक पडते-पड़ते ही काल सबको खा जाता है।' कहते है कि महाराजा भोजके महलमे एक पण्डित बुरी आदतके कारण चोरी करने घुस गये। रातको चोरी करनेपर मन चला परन्तु शास्त्रवचनोंपर श्रद्धा थी, इससे वे जिस वस्तुपर मन चलाते, उसीकी चोरीका 'अमुक पाप है' ऐसे शास्त्रवचन उन्हें याद आ जाते। रात-भर उन्होंने यो ही सोचने-सोचनेमें बिता दिया। प्रातःकाल जब महाराजा भोजके जगनेका समय हुआ, तब पण्डित पलगके नीचे छिप गये। महाराजा भोज जब सोकर उठते थे, तब उनके सम्मानार्थ सुन्दरी स्त्रियाँ, प्रेमी सुहृद्-बन्धु, विनयशील सेवक आकर खडे हो

अपनेको भगवान्‌की भक्तिमें लगा दो । सब लोकधर्मोंको छोड दो, निरन्तर भगवद्भक्तिरूप धर्मका सेवन करो, साधु पुरुषोंका सङ्ग करो तथा भोगोंकी तृष्णाको त्याग दो और दूसरेके दोष-गुणोंका चिन्तन करना तुरत छोड़कर भगवान्‌की सेवा-कथाके रसको भलीभाँति पीते रहो ।'

भर्तृहरिजीने कहा है—

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम् ।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ॥

'भूखी बाघिनकी भाँति गर्जती-तर्जती हुई वृद्धावस्था सामने खडी है, शत्रुके सदृश रोग शरीरपर प्रहार कर रहे हैं, फूटे घड़ेसे निकलनेवाले जलकी तरह उम्र चली जा रही है तो भी मनुष्य बुरे आचरणमे ही लगा है, यह बडा आश्चर्य है ।'

ईर्ष्यां छिन्धि भज क्षमां जहि मद पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनान् ।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रच्छादय स्वान्गुणान्
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥

'किसीकी उन्नति देखकर होनेवाली डाहको काट दो, बुरा करनेवालेका बुरा करनेकी अपनेमे सामर्थ्य होनेपर भी उसका भला करो, धन, रूप, कुल, विद्या, अधिकार आदिके नशेका त्याग कर दो, पापकर्मोंमे—शास्त्रनिषिद्ध दुराचरणोमे कभी प्रीति मत करो, सत्य बोलो, सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करो, सच्चे विद्वानोका सङ्ग करो,

सम्मान्य पुरुषोको मान दो, द्वेष करनेवालेके साथ भी विनयका व्यवहार करो, अपने गुणोको सदा ढकने रहो, कीर्तिकी रक्षा करो—अकीर्ति हो ऐसा निन्दित कर्म मत करो, और दुखी जीवपर दया करो। सत्पुरुषोंके यही लक्षण है।'

इन श्लोकोका एक-एक वाक्य बडा ही हितकर और मानने-योग्य है। इनको केवल कण्ठस्थ ही नहीं करना चाहिये, अपने जीवनमे उतारना चाहिये। तभी यथार्थ लाभ होगा।

(८५)

पीछे पछतानेके सिवा और कुछ भी न होगा

सप्रेम राम राम! तुम्हारा पत्र मिला। भैया! सचमुच मनुष्य भ्रमसे ही भोगोमे सुख मानता है। असलमें भगवान्‌को छोडकर सुख कहाँ है? यहाँकी कौन-सी चीज स्थायी है?—'मा कुरु धनजन-यौवनगर्वम्, कालो हरति निमेषात् सर्वम्।' 'धन, परिवार और यौवनका गर्व मत करो, आँखकी पलक पडते-पडते ही काल सबको खा जाता है।' कहते है कि महाराजा भोजके महलमें एक पण्डित बुरी आदतके कारण चोरी करने घुस गये। रातको चोरी करनेपर मन चला परन्तु शास्त्रवचनोपर श्रद्धा थी, इससे वे जिस वस्तुपर मन चलाते, उसीकी चोरीका 'अमुक पाप है' ऐसे शास्त्रवचन उन्हें याद आ जाते। रात-भर उन्होंने यो ही सोचने-सोचनेमें बिता दिया। प्रात काल जब महाराजा भोजके जगनेका समय हुआ, तब पण्डित पलगके नीचे छिप गये। महाराजा भोज जब सोकर उठते थे, तब उनके सम्मानार्थ सुन्दरी स्त्रियों, प्रेमी सुहृद्-बन्धु, विनयशील सेवक आकर खड़े हो

जाते थे। हाथी-घोडोकी कतार सलामी उतारती थी। भोज उठे, तब इन सबको देखकर प्रसन्न होकर बोले—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणतिनम्रगिरश्च भृत्याः।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः—

'मनहरणी युवतियाँ, अनुकूल मित्र, उत्तम भाई-बन्धु, नम्र-विनयपूर्ण वचन बोलनेवाले भृत्य सब खडे हैं, हाथी चिग्घाड़ रहे हैं, चञ्चल घोडे नाच रहे हैं।' श्लोकके तीन चरणोंको सुनकर विद्वान् पण्डितसे रहा नहीं गया, उन्होंने झट चौथा चरण बोल दिया—

सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति॥

'आँखें मुँदीं कि फिर कुछ भी नहीं।'

इस चरणको सुनकर भोजराज चौंके। उन्होंने पूछा, 'कौन है?' पण्डितजी सामने आ गये और उन्होने सारा हाल कह सुनाया। भोजराज विद्वानोंका आदर करनेवाले थे। पण्डित तो शास्त्रसेवी विद्वान् थे और उन्होंने बड़े ही मौकेकी समस्या-पूर्ति की थी। इससे राजा केवल प्रसन्न ही नहीं हुए, उन्हें अपनी गर्वोक्तिपर संकोच हो गया और कहते हैं कि उसी दिनसे उन्होंने उस प्रथाको बंद ही करवा दिया। कहनेका तात्पर्य यह है कि सचमुच 'आँखें मुँद जानेपर कुछ भी नहीं है।' रावणके लाखो सन्तान थीं, सगरके साठ हजार पुत्र थे, यदुवंशी तो अनगिनत थे। आज किसीका पता नहीं है। बडे वीर, बडे प्रतापी, बड़े धर्मी और बड़े विद्वान् सभी कालके कराल गालमें समा गये और समाये चले जा रहे हैं। धर्मराजने इसीपर तो आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा था—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

'रोज-रोज प्राणी यमलोक सिधार रहे हैं, मर रहे हैं, हाथोंसे फूँककर आते हैं, पर वे शेष बचे हुए लोग चाहते हैं कि हम कभी मरें ही नहीं (इसी प्रकारका वे आचरण करते हैं), इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ।'

यहाँका सङ्ग वस्तुत वैसा ही है, जैसा आकाशमें उड़ते पखेरुओंका रातको किसी पेड़पर इकट्ठे हो जाना, अथवा यात्रियोंका धर्मशाला या चलती ट्रेनमें साथ-साथ रहना, या गाँवोंके बटोहियोंका किसी प्याऊपर मिलना । यह सम्बन्ध कितनी देरका ? प्रेमसे रहे, एक-दूसरेसे सहायता मिली, हिल-मिलकर सुख-शान्तिसे समय कट गया । लड़े-भिड़े, एक दूसरेको सताया, दु ख-अशान्ति बनी रही और लड़ाईके परिणामस्वरूप कहीं फँस गये तो बीचमें ही पुलिसकी हिरासत और जेलकी हवा भी खानी पड़ी । बस, यही दशा ससारी जीवोंकी है । व्यर्थ ही 'मेरा-मेरा' करके सब मरे जा रहे हैं—

अशनं मे वसनं मे जाया मे बन्धुवर्गो मे ।
इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषाजम् ॥

'यह अन्न मेरा, वस्त्र मेरा, स्त्री मेरी, पति मेरा, सम्बन्धी मेरे इस प्रकार मे-मे (मेरा-मेरा) करनेवाले मनुष्यरूप बकरेको कालरूपी भेड़िया खा जाता है ।'

जो वस्तु अभावयुक्त है, पूर्ण नहीं है, उसमें सुख कहाँ, कमीका दु.ख सदा ही शूलकी तरह चुभता रहता है । फिर जो आज है, कल बिछुड़ जायगी, हमसे अलग हो जायगी उसमें तो सुखकी कल्पना ही मूर्खता है । इस दृष्टिसे, जगत्में जो लोग सुखी समझे जाते हैं, वे कोई भी वास्तवमें सुखी नहीं है । वर जिनके पास ससारके सुख-

और चन्द्रमाका तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका भी लय हो जायगा । यह विचार जो आपके मनमे उठा, इससे तो आपको और प्रसन्न होना चाहिये; क्योंकि यह समस्त शास्त्रों और पुराणोंका सिद्धान्त है, संतों-महात्माओंका अनुभव है तथा प्रतिक्षण, जगत्का जो संहार हो रहा है, उसके आधारपर अनुमान किये जाने योग्य अकाट्य सत्य है। ऐसा सत्य जो अनायास आपके मनमे प्रकट हुआ, इससे आपको सन्तोष होना चाहिये । यद्यपि यह बात सब जानते हैं, सब लोग अनुभव करते हैं, किंतु किसीका इस ओर ध्यान नहीं जाता, इसलिये लोग प्रमादमे पडे-पडे ही जीवन खो देते हैं । कल्याणका एक सुन्दर अवसर हाथसे निकल जाता है ।

जिस बड़भागीके ध्यानमें जीवनकी असारता और जगत्की क्षणभङ्गुरताका बोध हो जाय, उसको सावधान होकर अपने कल्याणके साधनमें लग जाना चाहिये । पापसे बचें, भगवान्का नाम लें, उनका ही ध्यान करें, दान और सेवासे दूसरे लोगोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करें, जिससे मृत्युके समय पछताना न पड़े । मृत्युसे डर क्यों हो ? जो बात अवश्य होनेवाली है, उसको रोक कौन सकता है ? यह मिट्टीकी काया सदा चल नहीं सकती । एक-न-एक दिन गिरेगी ही । जब मृत्यु निश्चित है, तब आज हो या कल, इसकी चिन्ता क्यों की जाय ? हार्टफेल होनेसे होगी या और किसी बीमारीसे, इसके लिये परेशान होनेकी क्या आवश्यकता ? जब मृत्यु होनेवाली होगी, हो जायगी । जबतक नहीं हुई है, तबतक इस शरीरसे, इस मनसे, इस बुद्धि और विद्यासे पूरा लाभ उठा लिया जाय । यही अपनी सावधानी है, यही अपना कर्तव्य है।

इसके अतिरिक्त, मृत्यु कोई चीज नहीं है । वस्त्र नहीं बदला,

शरीर बदला। आत्मा तो अजर-अमर है। जैसे कपड़ा पुराना होता और फटता है, उसी प्रकार शरीर भी बूढ़ा होता और नष्ट होता है। इससे आत्माकी या आपकी मौत कभी नहीं होती। इस प्रकार विचार करनेसे आपका भय दूर हो सकता है। इसके लिये आप प्रतिदिन गीताके द्वितीय अध्यायका अर्थसहित पाठ करें। रामनामका जप भी लाभकर है। आप भय और वहमको तो एकदम मनसे निकाल ही दीजिये। शरीरमें अधिक आसक्ति और भोगोंके प्रति अधिक लोभ होनेसे ही मनुष्य मृत्युसे डरता है। किंतु है यह मूर्खता। आप-जैसे पढ़े-लिखे लोग इस मूर्खतामें पड़ें—यह शोभा नहीं देता। यह अज्ञान ही मनुष्यको कष्ट देता और नरकमें गिराता है। आप इससे बचें और भगवान्‌का स्मरण-भजन करके जीवनको सफल बनावें। शेष प्रभुकी कृपा।

(८७)

संयोगका वियोग अवश्यम्भावी है

प्रिय महोदय, सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। संसार परिवर्तनशील है, यहाँकी कोई भी वस्तु नित्य स्थिर नहीं है, जो जन्मा है सो मरेगा ही, उन्नतका पतन निश्चय होगा ही। सञ्चितका क्षय अनिवार्य है। संयोगका एक दिन वियोग अवश्य होना है। जो इस प्रकार समझ लेते हैं, वे विज्ञ पुरुष यहाँके इस लाभ-हानिमें हर्ष और शोकके वशमें नहीं होते—

जातस्य नियतो मृत्युः पतनं च तथोन्नतेः।
विप्रयोगावसानस्तु संयोगः सञ्चयः क्षयः॥

विज्ञाय न बुधाः शोकं न हर्षमुपयान्ति ये ।

(ब्रह्म० २१२ । ८९-९०)

आप देख रहे हैं, इस समय संसारमें सभी ओर कितना परिवर्तन हो रहा है । भारतवर्षमें सैकड़ो राजा थे, सब स्वतन्त्र थे, आज एकका भी शासन नहीं रहा । अतएव यदि धनियोंका धनह्रास हो रहा है तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है । धनका आना और जाना—दोनों ही कर्माधीन हैं । अपने ही किये हुए कर्मोंका अवश्यम्भावी फल है । दूसरे लोग तो निमित्त बनते हैं । अवश्य ही बुरेमें निमित्त बनना पाप है, और स्वार्थवश इस प्रकारका पाप करनेवाले उसका फल—दुःख भोगनेके लिये बाध्य हैं । आपने तोड़-फोड़ करने, लूट-मार मचाने, घरोंमें, खेतोंमे आग लगाने आदिकी बातें लिखीं सो सत्य हैं । ये सब बहुत बुरी बातें हैं; परंतु आजकल यह समझाया जा रहा है कि ऐसा करना चाहिये ! यह भी किसी एक वादके सिद्धान्तका अङ्ग है ! लेकिन बुरी चीज, किसीके सिद्धान्त मान लेनेसे ही अच्छी नहीं हो जाती । न उसे कल्याणकारी ही माना जा सकता है । हमारे यहाँ तो ऋषियोंने कहा है—'जो मनुष्य नगर, खेत, घर और गाँवमें आग लगाता है, उस मूढ़को कल्पपर्यन्त महारौरव नरकमें जलना पड़ता है—

पुरं क्षेत्रं गृहं ग्रामं यो दीपयति वह्निना ।
स तत्र दह्यते मूढो यावत् कल्पस्थितिर्नरः ॥

(ब्रह्म० २१५ । १०१)

यहाँ भी ऐसे मनुष्य दिन-रात जलते ही रहते हैं । दूसरोंके अनिष्टमें ही अपना इष्ट माननेवाले लोग कहीं भी सुखी नहीं हो सकते ।

असल बात तो यह है---यह सब कुछ, जो हो रहा है, भगवान्‌की लीला है। इसको देखते रहना चाहिये और जहाँतक हो सके, अपने कर्तव्यके पालनका प्रयत्न करना चाहिये, पर सब कुछ करना चाहिये श्रीभगवान्‌का भजन करते हुए ही। 'कोटिं त्यक्त्वा हरिं भजेत्।' करोड़ काम छोड़कर भगवान्‌का भजन करे। यही हमारा-आपका मुख्य कर्तव्य है। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६।४७)

'समस्त योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् पुरुष मुझ (भगवान्) में लगे हुए अन्तरात्मासे निरन्तर मुझको भजता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है।' शेष भगवत्कृपा।

(८८)

आसक्तिनाशके उपाय

श्रीभगवान्‌में आपका प्रेम तथा श्रद्धा बहुत शीघ्र बढ़ जायँ, आपके सारे दोष तुरंत मिट जायँ तथा निरन्तर श्रीभगवान्‌का भजन-चिन्तन होने लगे—आपकी यह इच्छा तो बहुत ही सुन्दर, सराहनीय और अनुकरणीय है, परन्तु मेरा पत्र पढ़ते ही ऐसा हो जाय, मैं ऐसी बात लिखूँ—आपका यह भाव सुन्दर होनेपर भी मुझे अपनेमें ऐसी बात नहीं दिखायी देती कि मेरे लिखनेमात्रसे ऐसा हो जाय।

कामिनी, काञ्चन और भोगोंकी आसक्ति इनमें वैराग्य होनेसे या भगवान्‌के ऐश्वर्य, माधुर्य और सुहृद्पनमें विश्वास होनेसे मिट

सकती है । भोगोंमें सुख नहीं है, सुखका भ्रम है । भगवान्‌को छोड़कर भोग तो दु.खमय ही हैं । जैसे अफीम और सखिया जहर हैं, यह हमारा दृढ़ विश्वास है, इसीलिये ललच देनेपर भी, बहुत मीठी और सुन्दर मिठाईमें मिलाकर देनेपर भी, कोई जान-बूझकर इन्हें नहीं खाते । जानते हैं कि इन्हें खानेसे हम मर जायँगे । इसी प्रकार भोगोंका विषमय परिणाम निश्चय हो जानेपर उनमे कोई रमेगा नहीं । भगवान्‌ने तो गीतामें स्पष्ट ही कहा है कि भोगोंसे मिलनेवाला सुख आरम्भमें अमृत-सा मालूम होता है, परन्तु परिणाममे जहर-सा है । यह बात हम पढ़ते-सुनते हैं, परन्तु विश्वास नहीं करते । और यह भी विश्वास नहीं करते कि यदि हमें धन, भोग आदिमे ही सुख मिलता है तो ये भी सबसे बढ़कर श्रीभगवान्‌में ही हैं । जगत्‌में जितने भोग-सुख-ऐश्वर्य हैं, सभी अनित्य हैं, विनाशी हैं; और जो हैं सो भी अत्यन्त ही अल्प हैं । जगत्‌में सारे भोग-सुख-ऐश्वर्य एक स्थानमें एकत्र कर लिये जायँ तो वे सब मिलकर भी भगवान्‌के भोग-ऐश्वर्यके करोड़वें हिस्सेकी छायाकी भी तुलना नहीं कर सकते । 'भगवान्' शब्दका अर्थ ही है—जिसमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—ये छ सदा एकरस, अनन्त एव असीमरूपसे निवास करते हैं ।

संसारमे बस, छ ही प्रधान वस्तुएँ हैं, जिनकी ससारी और साधक लोग कामना करते हैं—ऐश्वर्य, धर्म, यश (कीर्ति, मान, बड़ाई, प्रशंसा आदि), श्री (धन, दौलत, तेज, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, स्त्री-पुत्रादिसे सम्पन्नता आदि), ज्ञान (लौकिक और पारमार्थिक ज्ञान) और वैराग्य, इनमेसे कोई किसीको चाहता है, कोई किसीको ।

परन्तु खेद तो यह है कि चाहनेवाला चाहता है उससे, जिसके पास इनमेंसे कोई भी चीज पूरी नहीं है । चाहता है वैसी चीज जो नाश होनेवाली है, चाहता है उससे जो दे या न दे, अथवा जिसमें देनेकी शक्ति ही न हो, और चाहता है ऐसी अवस्थामें कि जिसमें यदि कुछ मिल जाय तो रखनेको ठौर नहीं । सबको मिलती भी नहीं, मिलती तो अधूरी और दोषयुक्त ही मिलती है, एक जगह तो किसीको अधूरी भी प्राय नहीं मिलती । ये छहों वस्तुएँ पूरी-की-पूरी——इतनी कि जिसकी सीमा ही न हो—एक साथ, एक समय, चाहे जितनी और चाहे जिसको एक श्रीभगवान्‌में मिल सकती है । और भगवान्‌मे ये सब वस्तुएँ उस परमोच्च स्तरकी, सबसे बढ़िया—ऐसी क्वालिटीकी है कि जिसकी तुलना ही नहीं हो सकती । भगवान् है—हमारे सुहृद्‌ ! वे हमसे अकारण ही प्रेम करते हैं । वे देनेको तैयार है—अपने भण्डारकी चाभी । देर इतनी ही है कि हम विषयोंके तुच्छ मोहको छोडकर उन्हींपर निर्भर हो जायँ और अपनी कोई भी रुचि या इच्छा न रखकर उन्हींकी मर्जीपर अपनेको छोड़ दे । बस, भगवच्चरणों-में अपनेको सर्वभावसे डाल दे । वे मारे या बचावें, उनकी इच्छा । और करें क्या——'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता ।' सब कुछ उन्हे सौंपकर निश्चिन्त होकर उनका स्मरण करे । जगत्‌में कुछ भी हो जाय, हमारा कुछ भी हो जाय, हमे कोई चिन्ता न हो, कुछ भी उद्वेग न हो, जरा भी हम न घबरायें । उद्वेग—व्याकुलता हो तब, जब एक आधे पलके लिये भी हम उन्हे भूल जायँ । उनका भूलना हमे सहन न हो ! उस समय उससे भी अधिक तड़प हमारे मनमें हो, जो जलसे निकालनेपर मछलीको होती है । सुखके लिये

हम चाह ही न करें। सुखकी चाह, सुखके लिये चिन्ता और व्याकुलता तो दु:खको बुलानेका साधन है। बस, चाह हो ही नहीं, हो तो एक यही कि उनका चिन्तन एक-आधे क्षणके लिये भी न छूटे। प्रार्थना हो तो यही कि 'भगवन् ! तुम्हारे स्मरण विना यह जीवन न रहे। एक क्षण भी तुम्हारा विस्मरण इस जीवनको न सुहावे। तुम कहीं रक्खो इसे, यह अपने कर्मवश कहीं जाय—बस, तुम्हारी स्मृति बनी रहे और तुम अपना कल्याणमय हाथ स्मृतिरूपमें सदा इसपर रक्खे रहो।

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु, रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ु अनुदिन अधिकाई॥

बस, तुम्हारे चरणोंमें प्रेम बढ़ता रहे, जिससे स्मरण आनन्दमय हो जाय। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, भोगवासना और कामिनी-काञ्चनका मोह तथा पाप-ताप सब बह जायँगे—भगवत्कृपाकी एक वर्षासे। अमोघ शक्ति है भगवत्कृपामें। उस भगवत्कृपापर विश्वास कीजिये। फिर शान्ति, समता, सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि, सब कुछ भगवान्‌से ही होता है—यह विश्वास आदि सब अपने-आप ही आ जायँगे आपमें—जैसे राजाके पीछे उसकी सारी सेना आ जाती है। ये सब तो भगवत्कृपाके लवाजमे हैं। जहाँ भगवत्कृपाकी दृष्टि हुई कि सब काम बना। कृपा तो है ही, विश्वास कीजिये।

अन्तमें—और कुछ न हो, तो तीन बातोंपर ध्यान रखिये—

(१) पापोंका त्याग, (२) दैवी सम्पत्तिकी कमाई और (३) श्रीभगवन्नामका नियमित जप।

भोगत्यागसे ही इन्द्रियसंयम सम्भव है

प्रिय श्री ······ सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिले कई दिन हो गये । विलम्बके लिये क्षमा करें । आपने लिखा कि 'इन्द्रियोंको रोकनेकी अपेक्षा उन्हें यथेष्ट भोग भोगने देना कहीं अच्छा मालूम होता है । जब भोगोंको खूब भोगकर ये तृप्त हो जायँगी, तब आप ही भोगोंसे हटकर भगवान्‌में लग जायँगी ।' मेरी समझसे आपकी समझ गलत है । भोगोंके भोगते रहनेसे शरीरकी शक्ति अवश्य क्षीण हो जायगी, परन्तु भोग-लालसा कभी नहीं मिटेगी । एक तो, इन्द्रियोंको भगवान्‌ने रचा ही है बहिर्मुखी बनाकर—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठ० २ । १ । १)

'स्वाधीन परमेश्वरने इन्द्रियोको बहिर्मुखी—बाह्य पदार्थोंका ग्रहण करनेवाली—निर्माण किया है । इसलिये वे शब्दादि बाह्य विषयोंको ही देखती हैं, अन्तरात्माको—अन्तरमें स्थित भगवान्‌को—नहीं देखतीं । कोई-कोई विवेकी पुरुष अमृतत्व मोक्षकी इच्छासे चक्षु आदि इन्द्रियोंको उनके विषयोसे लौटाकर अन्तरात्माके दर्शन करते हैं ।'

फिर इन्हें यदि भोगोंमें ही लगाये रक्खा जाय तो इससे भोग-तृष्णाका कभी नाश नहीं होगा । भोगाभ्याससे स्वाभाविक ही भोगानुराग एवं भोगविषयक पटुताकी ही वृद्धि होगी । जैसे आगमें

ईंधन और घी डालनेसे आग बढ़ती है, बुझती नहीं—इसी प्रकार भोगोंकी आहुतिसे कामाग्नि भी बढ़ती ही रहती है—

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय-भोग बहु घी तें।

महाराज ययातिने पुत्रसे जवानी लेकर विषयोंका उपभोग किया, परन्तु इससे भोग-कामना मिटी नहीं, बढ़ती ही गयी। तब हारकर यही कहा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

'मनुष्यकी कामनाका मनचाहे भोगोंके भोगसे कभी शमन नहीं होता; परन्तु अग्निमे घृतकी आहुति देनेपर जैसे अग्नि न बुझकर उल्टी अधिक बढ़ती है, वैसे ही विषयभोगोंके सेवनसे कामना भी बढ़ती ही है।'

इन्द्रियोंको यथेष्ट भोग भोगने देनेकी बात वस्तुत. हमारी कमजोरीकी ही सूचना देती है। हमारी भोगासक्ति ही हमसे ऐसा कहलवाती है। हमें ऐसा निश्चय है कि इन्द्रियके द्वारा विषयका संस्पर्श होनेपर सुख मिलेगा। यह सुखकी भ्रमपूर्ण लालसा ही हमे इन्द्रियभोगमे प्रवृत्त करती है। भगवान्‌ने तो कहा है कि यहाँ इसमें कोई सुख है ही नहीं—यह सब तो 'अनित्य और असुख' है। असलमें कोई भी विषय पूर्ण और नित्य नहीं है। अपूर्ण और अनित्यसे मनुष्यको कभी स्थायी सुख नहीं मिल सकता, वल्कि अनित्य और अपूर्ण सुख परिणाममे दु.खदायी ही हुआ करता है। भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्त. कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'इन्द्रिय और विषयोके संसर्गसे उत्पन्न होनेवाले जो ये भोग है, ये विषयी पुरुषोको सुखरूप प्रतीत होनेपर भी वस्तुत हैं दु खके ही हेतु आर हैं ये आदि-अन्तवाले अनित्य । अतएव अर्जुन ! बुद्धिमान् पुरुष इनमे प्रीति नहीं करते ।' अतएव यह सिद्ध है कि भोगाभ्यासके द्वारा इन्द्रियोकी भोगकामनाका नाश असम्भव है । जीवन बहुत थोडा है, इसलिये बड़ी सावधानीके साथ इन्द्रियोंको बाह्य भोगोसे बलपूर्वक, परन्तु विवेकके साथ रोकनेका अभ्यास सिद्ध करके उन्हे भगवद्विषयक शुभ साधनोमे लगाना चाहिये । उन्हें यथेच्छ भोग न भोगने देकर— जिससे वे अन्तर्मुखी हो सके ऐसे—अन्तरतम भगवान्से सम्बन्ध रखनेवाले कार्योंमें सर्वदा सलग्न कर देना चाहिये । भगवत्सम्बन्धी कार्योंसे ही मनुष्यके मनुष्यत्व, महत्त्व और विवेकयुत धर्मपरत्वका प्रकाश होता है । इन्द्रियोके सामने भोगोंकी क्षणभङ्गुरता, नश्वरता और दु खरूपताके चित्र बार-बार लाकर उन्हें भोगोंसे हटाने तथा भगवान्की नित्यता, समता और सुखरूपताके दर्शन कराकर उन्हें भगवान्मे लगानेका प्रयत्न करते रहना चाहिये । जितेन्द्रिय वही है जिसकी इन्द्रियाँ बाह्य विषयोंका सस्पर्श पाकर भी उनसे उदासीन रहे—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रिय. ॥

(मनु० २ । ९८)

'जो मनुष्य कानसे सुनकर, स्पर्शेन्द्रियसे छूकर, आँखोंसे देखकर, जीभसे खाकर और नाकसे सूँघकर भी न तो अनुकूलतामें प्रसन्न होता है और न प्रतिकूलतामे उदास होता है—उसे अनुकूलता-प्रतिकूलता-से मतलब ही नहीं रहता, तभी उसे जितेन्द्रिय जानना चाहिये ।'

यह तभी होगा जब अनुपम सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्यके समुद्र भगवान्‌में हमारा मन लगेगा—और भगवान्‌के ही प्रत्येक विषयका हमारी इन्द्रियाँ सतत उपभोग करेंगी ।

कानन दूसरो नाम सुनें नहि एकहि रंग रँगो यह डोरो ।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़े रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो ॥
ठाकुर प्रीतिकी रीति यही हम सपनेहु टेक तजैं नहिं भोरो ।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो ॥

अतएव मनके धोखेमें न पड़िये, स्वच्छन्द अनर्गल भोगोंमें इन्द्रियोंको न रमने दीजिये, विलास-सामग्रीसे उन्हें बचाइये; गंदे नाच-गान और सिनेमामें रुचि न पैदा होने दीजिये, सावधान रहिये, जीवनका कोई भी क्षण व्यर्थ तथा अनर्थकारी विषय-सेवनमें कदापि न लगे !

---

(९०)

ब्रह्मज्ञान या भ्रम

महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला । आपने अमुक सज्जनके सम्बन्धमें लिखा कि 'वे बहुत बड़े विद्वान् हैं, बड़ा अच्छा प्रवचन करते हैं, वेदान्तकी प्रक्रिया बहुत अच्छी तरह समझते-समझाते हैं और बड़े विचारशील भी हैं । वे स्वयं अपनेको ब्रह्मनिष्ठ समझते हैं और ऐसा ही कहते भी हैं, परन्तु भोगोंमें उनकी काफी आसक्ति देखी जाती है । उनके आचरणोंमें भी दोष देखे जाते हैं । भजन भी वे नहीं करते, बल्कि नाम-जप तथा भगवत्-पूजन आदिको मन्द अधिकारियोंकी साधना बतलाते हैं और ब्रह्मज्ञानीको शास्त्रकी सीमासे बाहर बतलाते हैं । आपकी उनके सम्बन्धमें क्या सम्मति है ।'

असलमें ब्रह्मज्ञानी पुरुषकी बाहरी लक्षणोंसे कोई पहचान नहीं होती। यह तो अपने अनुभवकी चीज है—स्वसंवेद्य है। दूसरा कोई भी कुछ भी नहीं कह सकता, परन्तु यदि किसीकी भोगोंमें वास्तविक आसक्ति है और आसक्तिपूर्वक आचरणोंमें दोष भी आते हैं—पापकर्म भी बनते हैं तो मानना चाहिये कि अभी उसे 'ब्रह्मज्ञान' नहीं हुआ है। ब्रह्मज्ञान मुँहकी चीज नहीं है, न वेदान्तकी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेसे ही कोई ब्रह्मज्ञानी हो सकता है। साधनचतुष्टयसम्पन्न पुरुष तीव्र साधनाके फलस्वरूप अज्ञानका नाश होनेपर ही ब्रह्मसाक्षात्कारको प्राप्त होता है। कठोपनिषद्में कहा गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥
(१।२।२३)

'यह आत्मा न तो शास्त्राध्ययनरूप प्रवचनसे प्राप्त होता है, न तीक्ष्ण बुद्धिसे ही और न अनेकों शास्त्रोंके बार-बार श्रवणसे ही। वास्तवरूपसे उपासित होनेपर यह कृपापूर्वक जिस मुमुक्षु साधकके प्रति प्रसन्न होता है—अथवा जो मुमुक्षु साधक अभिन्नभावसे इस आत्माको प्राप्त करनेके लिये भोग-सुखादिका विषवत् परित्याग करके निरन्तर एकान्तभावसे प्रार्थना करता है, उसी मुमुक्षु साधकको इसकी प्राप्ति होती है। उसी मुमुक्षु साधकके शुद्ध अन्तस्तलमें यह आत्मा अपने स्वरूपको प्रकाशित करता है।'

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
(१।२।२४)

'जो पुरुष शास्त्रनिषिद्ध पापरूप दुश्चरित्रमें निवृत्त नहीं हो गया है अर्थात् जो शास्त्रके विधि-निषेधको न मानकर मनमाना दुराचरण करता है, वह इस आत्माको केवल प्रज्ञान (ब्रह्मविषयक विचार)के द्वारा नहीं पा सकता; जो इन्द्रियभोगोंमें अत्यन्त आसक्त होकर दिन-रात बंदरकी तरह विषयोंमें ही भटका करता है—भोगलोलुपतामें ही लगा है, वह नहीं पा सकता, जो नाना प्रकारकी भोगचिन्ताओंसे सदा विक्षिप्तचित्त है, भगवान्‌में एकाग्र करनेकी कभी चेष्टा नहीं करता, वह भी नहीं पा सकता, और जिसका चित्त विविध फलकामनाओंकी ताड़नासे सदा-सर्वदा अशान्त—चञ्चल रहता है, वह पुरुष भी नहीं पा सकता। इस आत्माको प्रकृष्ट ज्ञानके द्वारा वही पुरुष पा सकता है जो पापसे निवृत्त है, इन्द्रियभोगोंकी आसक्तिसे छूटकर स्थिर साधनामें लगा है, भगवान्‌में एकाग्रचित्त है और फलकामनारहित अचञ्चल चित्तवाला है।' और उसे भी आत्मा—ब्रह्मकी प्राप्ति तभी होती है, जब वह एकान्त शरणागतिके द्वारा भगवत्कृपाका अधिकारी हो जाता है।

जो कहता है मैं ब्रह्मको नहीं जानता, वह तो जानता ही नहीं, पर जो कहता है मैं जानता हूँ, वह भी नहीं जानता। असलमें यह वाणीका विषय है ही नहीं। तथापि मानव-जीवनका परम लक्ष्य तो यही है। उपनिषद्‌में कहा गया है—

> इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
> न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
> भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
> प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
>
> (केन० २। ५)

'इस मनुष्य-शरीरमें यदि ब्रह्मको जान लिया तो जीवन सफल हो गया। इसमे यदि नहीं जाना तो महान् अनिष्ट हो गया। इसीलिये धीर साधकगण प्रत्येक भूत-पदार्थमें ब्रह्मको उपलब्धि करके इस लोकसे जाकर अमृतत्वको—भगवत्स्वरूपको प्राप्त होते हैं।'

मनुष्य-शरीर पाकर जो ब्रह्म या भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार नहीं करते, उनके सम्बन्धमे उपनिषद्मे कहा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(ईश० ३)

'आत्मज्ञानहीन—आत्मघाती लोग मृत्युके बाद घोर अन्धकारके द्वारा आवृत असुरोंके निवासयोग्य विविध नरकादि लोकोंमें अथवा वृक्ष-पाषाणादि योनियोंमे जाते हैं।'

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

अतएव पापाचारसे सर्वथा बचकर भगवान्के भजन-ध्यानके द्वारा भगवत्कृपाका अधिकार प्राप्त करना चाहिये, जिससे भगवान्के यथार्थ स्वरूपका सच्चा ज्ञान प्राप्त हो और मानव-जीवनकी सफलता हो। यह सच्चा साक्षात्कार तभी होता है, जब स्वय भगवान् कृपापूर्वक करवाते हैं—

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

यह सत्य है कि ब्रह्मज्ञानी शास्त्रकी सीमासे बाहर होता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह जान-बूझकर शास्त्रका उल्लङ्घन करता है। वह विधि-निषेधके कैदमें नहीं है तथापि जबतक उसे शरीरका होश है, तबतक उसके शरीर-इन्द्रियोंसे ऐसे आचरण नहीं होते जो

शास्त्रविरुद्ध हों और लोगोंमें पापका विस्तार करनेवाले हों। रही भजनकी बात सो भजन तो ब्रह्मज्ञानीका स्वरूप ही होता है। उसका जीवन होता ही है भजनमय।

अतएव जो लोग भजनकी निन्दा करते हैं, शास्त्रके विधि-निषेधको न मानकर मनमाना पापाचरण करते हैं, भोगोंमें आसक्त हैं पर अपनेको ब्रह्मज्ञानी मानते हैं, उनसे तो सावधान रहना ही चाहिये और वैसे 'ब्रह्मज्ञान'को भी कभी यथार्थ ब्रह्मज्ञान नहीं मानकर दूरसे ही नमस्कार करना चाहिये।

पापसे न छुडानेवाला ज्ञान ब्रह्मज्ञान नहीं, भ्रमज्ञान ही है।

(९१)

चार द्वारोंकी रक्षा

आपका कृपापत्र मिला। समाचार जाने। महाभारतमें आया है कि हाथ, वाणी, उदर और उपस्थ—इन चार द्वारोंसे मनुष्य पाप करता है। इन चार द्वारोंकी भलीभाँति रक्षा करे तो मनुष्य पापसे बच जाता है।

जो मनुष्य जूआ नहीं खेलता, दूसरेका धन किसी तरह भी नहीं लेता, नीच जातिके मनुष्योंका यज्ञ नहीं कराता, पर-स्त्रीका स्पर्श नहीं करता और क्रोधमें आकर किसीको चोट नहीं पहुँचाता, उसका हस्तद्वार सुरक्षित रहता है। जो निरन्तर सत्यवादी, मितभाषी (थोड़ा बोलनेवाला) और सावधान रहकर भगवान्का नाम लेता है और क्रोध, झूठ, कुटिलता तथा दूसरोंकी निन्दाका त्याग कर देता है, उसका वाग्द्वार सुरक्षित रहता है। (कठोर वाणी बोलना, अहंकारके

वाक्य उच्चारण करना, दूसरोंका बुरा हो—ऐसी बात कहना और व्यर्थ बातें करना भी वाग्-द्वारकी रक्षा न करना है।)

जो मनुष्य अधिक भोजन और लोभ न करके शरीरकी रक्षाके लिये परिमित (शुद्ध) भोजन करता है और निरन्तर सत्पुरुषोंकी संगति करता है, वही उदर-द्वारकी रक्षा कर सकता है।

जो पुरुष एक स्त्रीके रहते दूसरा विवाह नहीं करता तथा ऋतु-समयके अतिरिक्त स्त्री-सम्भोग तथा कभी परस्त्रीगमन नहीं करता, उसीका उपस्थद्वार सुरक्षित रहता है। जो मनुष्य इन चारोंकी रक्षा नहीं कर सकता, उसके सब प्रयत्न विफल होते हैं।

आपकी बहुत-सी बातोंका उत्तर इसीमें आ गया है। जीवन अमूल्य है; जो श्वास चला गया, वह फिर लौटकर नहीं आता। ऐसी हालतमें व्यर्थके कामोंमें, और खास करके जिनसे दुःख, अशान्ति एवं कलह-क्लेश बढ़ते हों तथा भगवान्‌का भजन छूटता हो, ऐसे कार्योंमें जीवनका लगाना तो कभी बुद्धिमानी नहीं कहा जा सकता। आप समझदार हैं। सोच-विचारकर वही कीजिये जो यहाँ सुख, शान्ति और पुण्य बढ़ानेवाला और आगे भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला हो।

(९२)

चार काम अवश्य कीजिये

सादर सप्रेम हरिस्मरण। भाई साहब! जीवनके अमूल्य श्वास बीते जा रहे हैं। मौत कब आ जाय, कुछ भी पता नहीं। अतएव भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला आदिके श्रवण, कीर्तन और मननमें

जीवनके क्षणोंको सावधानीके साथ लगाइये । ऐसा न हो कि भगवत्कृपासे मिला हुआ मानव-देहका यह सुअवसर चला जाय और पीछे हाथ मल-मलकर पछताना पड़े । आपको अब संसारमें करना ही क्या है । बहुत कर लिया, बहुत देख लिया । अब तो उस महान् और अत्यावश्यक कार्यको साधिये, जो इस जीवनमें अवश्य-अवश्य साधना है ।

कुछ भी न हो तो चार काम तो कीजिये ही—

(१) जान-बूझकर पाप मत कीजिये ।

(२) जहाँतक बने, भगवान्‌के नाम-जपका अभ्यास बढ़ाइये ।

(३) सत्सङ्ग और सच्छास्त्रोंके अध्ययनमें कुछ समय दीजिये ।

(४) जहाँतक बने, गरीबोंकी तन और खास करके धनसे खूब सेवा कीजिये ।

इन सबमें भाव रखिये केवल भगवत्प्रीतिका । ये बातें आप चाहें तो सहज ही कर सकते हैं और मेरा विश्वास है कि लगनके साथ इन चारों साधनोंमें लगे हुए मनुष्यका जीवन सफल होगा ही । अधिक क्या लिखूँ । शरीर क्षणभङ्गुर है, यह याद रखिये ।

दो बातनको याद रख, जो चाहै कल्यान ।
नारायन इक मौतको दूजे श्रीभगवान ॥
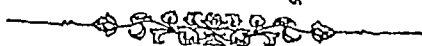
(९३)

तीन श्रेष्ठ भाव

आपका कृपापत्र मिला । आपने पूछा कि 'जगत्‌के सब जीवोंमें सच्चा प्रेम कैसे हो, सब एक दूसरेकी भलाईमें कैसे प्रवृत्त हों और

कोई भी किसीकी कभी बुराई न करे, इसका क्या उपाय है ?" सो मेरी समझमें निम्नलिखित तीन भावोंके अनुसार व्यवहार करनेपर ऐसा होना सम्भव है ।

(१) जगत्के सभी जीव श्रीभगवान्से उत्पन्न हैं, उनकी सन्तान हैं और इसलिये सब भाई-भाई हैं ।

(२) जगत्के सभी जीवोंमे एक ही आत्मा है ।

(३) जगत्के समस्त जीवोंके रूपमे एकमात्र श्रीभगवान् ही प्रकट हैं ।

ये तीनों ही शास्त्रसम्मत और सत्पुरुषोंके द्वारा अनुभूत सत्-भाव हैं एवं इनमें प्रत्येक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है । अब इन तीनोंपर कुछ अलग-अलग विचार कीजिये—

(१) जगत्के सभी जीव भगवान्से ही पैदा हुए हैं और भगवान्की ही सत्तासे भगवान्मे ही जी रहे हैं और अन्तमें भगवान्मे ही सबका प्रवेश होता है ।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।' (तै० उ०)

भगवान् ही सबके माता, पिता, पितामह है । अतएव सब भाई-भाई है । भाईका भाईमें प्रेम होना ही चाहिये तथा भाई भाईका भला करता ही है और भाई वस्तुत भाईका बुरा कर नहीं सकता । इस भावका यथार्थ विकास होनेपर परस्पर प्रेम और हितकी चेष्टा होना अनिवार्य है । सच्चे भ्रातृभावमे त्याग अपने-आप ही खिल उठता है । भाईका सुख-स्वार्थ ही अपना सुख-स्वार्थ बन जाता है और उसीमे परस्पर परितृप्ति होती है । श्रीरामजी भाई भरतको सिंहासनासीन

बनाना चाहते हैं और भरतजी भगवान् रामकी सेवा करनेके सिवा और कुछ स्वीकार ही नहीं करते । भरतकी राज्य-प्राप्तिके लिये वन जाते समय रामजी अपना अहोभाग्य मानते हैं—

भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ॥

और भरतजी वनमे जाकर रामजीसे कहते हैं—

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ ॥

विश्वका दुर्भाग्य है कि आज यह पवित्र भाव लुप्तप्राय हो गया है । आज भाईका स्थान वैरीका-सा हो चला है । भाई ही सबसे बढ़कर भाईकी बुराई करनेपर तुला है । यह भारी प्रमाद है । इस प्रमादसे बचनेके लिये यूरोपके मनीषियोंने 'विश्वभ्रातृत्व' (Universal Brotherhood) का प्रचार करना चाहा । यद्यपि उसमे एक बडा दोष था, वह केवल मानव-मानवमें ही भ्रातृत्वकी स्थापना करना चाहता था, भूतमात्रमे नहीं, तथापि वह भी चला नहीं । नीच व्यक्तिगत स्वार्थने भ्रातृत्वके पवित्र भावकी जड़ नहीं जमने दी । स्वार्थवश भाई ही भाईका गला काटनेको तैयार हो गया । इसीसे आज जगत्मे हाहाकार मचा है । आज ऐसा राम-सा भाई कहाँ है जो भाईके गुण गाते-गाते अघाता न हो ।

भरत हंस रबिबंस तड़ागा । जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा ॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उँजिआरी ॥

(२) भगवान्ने कहा है—'सर्वत्र आत्माको समभावसे देखनेवाला युक्तात्मा देखता है कि समस्त प्राणियोंमे आत्मा है और समस्त प्राणी आत्मामे हैं ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

(गीता ६ । २९)

अपने-आपमे सबका स्वाभाविक प्रेम है, सभी स्वाभाविक अपनी भलाई चाहते और करते हैं तथा जान-बूझकर अपना बुरा कोई नहीं करता । वर सब चौकन्ने रहते हैं कि कहीं हमारा कोई अनिष्ट न हो जाय । अतएव जब यह भाव हो जायगा कि सब मेरे आत्मा ही हैं, सब मैं-ही-मैं हूँ, तब अपने-आप ही उपर्युक्त बाते बन जायँगी । हमारे शरीरके किसी अङ्गमें कहीं भी कॉटा चुभ जाय, कहीं कुछ पीड़ा हो जाय तो उसका अनुभव हमें समानरूपसे होता है । हमारे शरीर और नामको किसी अंगमे कहीं कोई सुख-सम्मान मिलता है तो हम प्रसन्न होते है । कभी ऐसा नहीं सोचते कि अमुक अङ्गमे सुख है तो दूसरेमें नहीं होना चाहिये, या अमुक अङ्गमे दु ख है तो दूसरेमे भी होना चाहिये । हम चाहते हैं हमारे किसी अङ्गमे कभी कोई दु ख या पीड़ा न हो, सबमे सदा सुख रहे । सर्वत्र आत्मभाव हो जानेपर सबके सुख-दु खमे ऐसी ही समदृष्टि हो जाती है । फिर, प्राणीमात्रका दु ख हमारा दु:ख और सुख हमारा सुख हो जाता है । हमारी सीमाबद्ध अहता विश्वचराचरमे विस्तृत हो जाती है, हमारी क्षुद्र आत्मसत्ता विश्वकी विराट् सत्तामे मिल जाती है और हमारा क्षुद्र स्वार्थ विश्वके विस्तृत स्वार्थमे घुल-मिलकर एक हो जाता है । इसी अवस्थाको प्राप्त पुरुषके लिये भगवान्‌ने कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(गीता ६ । ३२)

'जो अपने आत्माके समान ही सबके सुख-दुःखको समानरूपसे देखता है, अर्जुन ! वही श्रेष्ठ योगी माना गया है ।'

यह भाव प्रथम भावकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है । भाई-भाईमें स्वार्थवश वैर-विरोध हो सकता है, परन्तु अपने आत्मासे किसीका वैर-विरोध नहीं होता । तथापि मनुष्य जैसे क्रोध या मोहके आवेगमें आप ही अपनी हानि कर बैठता है, आत्महत्यातक कर डालता है, वैसे ही मोहवश आत्मभूत जगत्का भी अनिष्ट करनेपर उतारू हो जाता है । आज यही हो रहा है !

(३) एकमात्र हमारे परमाराध्य इष्टदेव भगवान् ही विश्व और विश्वके प्रत्येक प्राणीके रूपमें प्रकट है । उनके सिवा और कुछ है ही नहीं । सर्वत्र वे-ही-वे हैं । उन्होंने कहा है—'अर्जुन ! मेरे सिवा और कुछ है ही नहीं ।'

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।

(गीता ७ । ७)

'अतः जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमे देखता है, उसकी ऑखोंसे मैं कभी ओझल नहीं होता एवं वह मेरी ऑखोंके सामनेसे कभी नहीं हटता ।'

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(गीता ६ । ३०)

इस परम भावकी प्राप्ति होनेपर उसे सर्वत्र पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि, ग्रह, नक्षत्र, वृक्ष, लता, दिशाएँ, नदी, समुद्र— सभीमें अपने भगवान्के दर्शन होते हैं । 'जित देखों तित स्याममयी

है ।' फिर वह सबका सम्मान, सबका हित, सभीकी पूजा, सभीका सत्कार स्वभावसे ही करता है । उसका मस्तक और हृदय सबके सामने सदा झुका रहता है—

सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

इनमेंसे किसी भी भावका यथार्थ प्रकाश मनुष्यके क्षुद्र स्वार्थका नाश कर सकता है । स्वार्थ और अभिमानसे ही वैर-विरोध, अनिष्ट-चिन्तन और असद्-व्यवहार होता है । स्वार्थ और अभिमानका जितने अंशमें त्याग होता है, उतने ही अंशमें इन दोषोंका नाश होता है तथा प्रेम और हित-चिन्तनकी वृद्धि होती है ।

(९४)

तीन विश्वास आवश्यक हैं

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आज जो इतनी विपत्तियाँ आयी हुई हैं, चारों ओर सन्देह और भय छाया है तथा भगवत्प्राप्तिके लिये इतनी बात सुननेपर भी तनिक भी उत्साह नहीं है, इसमें प्रधान कारण है 'भगवान्में विश्वासका अभाव ।' भगवान्में विश्वास होते ही जीवको ऐसा दिव्य प्रकाश मिलता है कि फिर सन्देह, भय, भ्रम और विपत्तिका सारा कुहासा कट जाता है, सारा अन्धकार मिट जाता है एवं अज्ञानका अपार आवरण तुरत हट जाता है । तीन प्रकारके विश्वासकी आवश्यकता है—१ भगवान्के अस्तित्वमें विश्वास । २. भगवान् जीवोंको मिलते है, यह विश्वास । और ३. हमें भी अवश्य मिलेंगे यह विश्वास ।

जबतक भगवान्‌के अस्तित्वमे विश्वास नहीं होता, तबतक उन्हें प्राप्त करने और उनके सहज स्नेहमय स्वभावसे और उनकी शरणागत-वत्सलतासे लाभ उठानेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये सबसे पहले यह विश्वास होना चाहिये कि भगवान् हैं।

'भगवान् हैं, पर वे समस्त ईश्वरोंके महान् ईश्वर है, अपने दिव्यलोकमे पार्षदोंके साथ रहते हैं अथवा समस्त ससारमे बर्फमे जलकी भाँति ओतप्रोत हैं। वे किसी एकसे मिलेगे क्यो। उनके मिलन-सुखका अनुभव जीवको क्यो होने लगा।' ऐसा सन्देह रहनेपर भी हमारे मनमें उनके साक्षात्कार करनेका कोई मनोरथ या उत्साह नहीं होगा। इसलिये यह दूसरा विश्वास होना चाहिये कि वे सर्वेश्वर, दिव्यधामवासी और नित्य सर्वगत तथा सर्वरूप होनेपर भी साधनसिद्ध पुरुषोंको कृपापूर्वक दर्शन देकर कृतार्थ करते है।

'मान लिया भगवान् है और वे सिद्ध साधकोंको मिलते हैं; पर हम-जैसे साधनहीन विषयी पामर जीवोंको क्यों मिलेंगे। वे मिलेंगे तपस्वियों-को, योगियोंको, अपने प्यारे भक्तोंको और अपने आत्मरूप ज्ञानियोंको। हम-सरीखे तप, त्याग, प्रेम और ज्ञानसे रहित मनुष्य उनके मिलनेकी कैसे आशा करें?' ऐसा सन्देह बना रहेगा तब भी भगवान्‌के मिलने-की स्फूर्ति और उत्कट इच्छा नहीं होगी। मनुष्य समझेगा कि हमारे लिये तो भगवान् आकाशकुसुमके समान सर्वथा दुर्लभ ही हैं। इसलिये तीसरा यह विश्वास होना चाहिये कि भगवान् सर्वलोकमहेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वात्मा और सर्वरूप होनेके साथ ही जीवमात्रके अकारण प्रेमी—परम सुहृद् है। जो उनसे मिलना चाहता है, उसीसे

मिल लेते है। जरा भी भेदभाव नहीं करते। ऐसे दयालु है कि पूर्व जीवनके कृत्योकी ओर ध्यान नही देते। वे देखते हैं केवल वर्तमान समयकी उसकी इच्छाको। यदि वह मिलनेके लिये आतुर है तो वे भी आतुर हो जाते है और तुरत उसको दर्शन देकर कृतार्थ कर देते हैं। ज्ञानी, प्रेमी, विषयी, पामर या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल अथवा पुरुष या स्त्री–कुछ भी नहीं देखते। न यही देखते हैं कि यह अभीतक दारुण पाप कर रहा था। वे तो वर्तमान क्षणका मन देखते हैं और उसमें यदि सच्चाई और अनन्याश्रय पाते हैं तो बस, सब कुछ भुलाकर उसे अपना लेते हैं, अपने हाथों—'स्नेहमयी जननीके द्वारा बच्चेके मलको धो डालनेके समान'—उसकी सम्पूर्ण पापराशिको धो डालते हैं और उसे परम पवित्र, स्वच्छ, शुद्ध बनाकर अपनी गोदमे बैठा लेते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबही ॥

भगवान्‌ने गीताजीमे कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९। ३०–३३)

'दारुण पाप करनेवाला पुरुष भी यदि अनन्यभावसे (एकमात्र मुझको ही त्राणकर्ता और शरण्य मानकर) भजता है तो उसे 'साधु' मान लेना चाहिये, क्योंकि उसका निश्चय (अनन्यभावसे मुझे भजनेका निश्चय) यथार्थ है । ऐसा करनेवाला (पापी) मनुष्य तुरंत ही धर्मात्मा बन जाता है और सनातनी परमा शान्तिको प्राप्त हो जाता है । भैया ! तुम निश्चयपूर्वक सत्य समझो कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता । (जो अबतक महापापी था, वही तुरंत साधु, भक्त और परम शान्तिका अधिकारी हो गया, यह है भगवान्‌के पतितपावन स्वभावका महत्त्व ।) अर्जुन ! स्त्री, वैश्य और शूद्र यहाँतक कि पापयोनिवाले भी यदि मेरा आश्रय ले लेते हैं तो वे भी परम गतिको ही प्राप्त होते हैं, फिर पुण्यशील ब्राह्मण, राजर्षि भक्त क्षत्रियोंके लिये तो कहना ही क्या है ? अतएव इस सुखरहित और अनित्य मानव-शरीरको पाकर तुम मुझको ही भजो ।'

इससे सिद्ध है कि भगवान् नीच-से-नीच प्राणीको भी मिल सकते है, क्योकि वे 'सभी प्राणियोके सुहृद्' ('सुहृदं सर्वभूतानाम्') हैं, इसलिये हमको भी अवश्य ही मिलेगे ।

ये तीन विश्वास जब मनुष्यके हृदयमे उत्पन्न हो जाते है, तब फिर भगवत्प्राप्तिमे विलम्ब नहीं होता और यह तो कहना ही व्यर्थ है कि भगवत्प्राप्तिके साथ ही सारे दु:ख-द्वन्द्व सदाके लिये नष्ट हो जाते हैं ।